डा० राधाकृष्णन्

[एक जीवनी]

लेखक
डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

विषय-सूची

: १ :

सामान्य परिचय

(१)

श्री रामकृष्ण के रूप विवेकानन्द प्राण की पुलकन।
तुम शक्ति और शिव दोनों के साकार मानवी दर्शन ॥
तुम जीव और जगदीश्वर के माध्यम, जीवन के स्पन्दन।
अभिनन्दन तुमको बार-बार भारत के राधाकृष्णनन् ॥

(२)

तुम संयोग-वियोग के ज्ञानी-विज्ञानी भ्रम-भंजन।
दिव्य दृष्टि के दाता तुम हो दोष दृष्टि के अंजन ॥
बसा तुम्हारे मानस में मानव का अलख निरंजन।
तुमने किया सत्य अन्वेषण साम्यक राधाकृष्णनन् ॥

(३)

तुमने दिया प्रकाश, प्रभा से आलोकित है कण-कण।
तुमने पथ निर्माण कर दिया चला मुक्ति गति जन-गण ॥
सत्य-साधना-निष्ठा-ओजस-शक्ति-तेज-आराधन।
तुमने किया सचेत विश्व, मानव को राधाकृष्णनन् ॥

(४)

गगन और पाताल त्याग कर किया भूमि का वन्दन।
मन्दिर-मस्जिद-गिरजाघर को किया न आत्म-समर्पण ॥
रच कर मौलिक छन्द मानवी का करते अनुशीलन।
दुनियाँ को वरदान बाँटते फिरते राधाकृष्णनन् ॥

(५)

तुमने किया पूर्व-पश्चिम का एक नया गठ-बन्धन ।
तुमने सुना प्राण के अन्तस्तल का आकुल-क्रन्दन ।।
मिला तुम्हारे जीव-जगत् को एक नया आकर्षण ।
स्वर्ण अमर सन्देश सुनाया तुमने राधाकृष्णनन् ।।

(६)

करते रहे सदा जीवन से जीवन का आराधन ।
क्षण-क्षण कर आचरण तुम्हारा जीवन का नीराजन ।।
सुन्दर स्वच्छ स्वरूप मनुष्य का किया यत्न से चित्रण ।
सत्य-सांस्कृतिक शक्ति-ज्ञान का किया कर्म में विलयन ।।

(७)

बने मेदिनी-मानवता की वेदी के दीपायन ।
मिला तुम्हारी ज्ञान-ज्योति को जगती का अनुमोदन ।।
श्री रामकृष्ण की किरणों से आलोकित चित का चिन्तन ।
सप्त सिन्धु ने किया तुम्हारा स्वागत राधाकृष्णनन् ।।

(८)

वादों का अपवाद त्याग कर मौलिक सुधा-सुवर्षण ।
तुमने किया उदार धरा पर पुलकित हर्षित कण-कण ।।
साधक ! सावधान तुम रहे कोलाहल में क्षण-क्षण ।
तुम्हें हिमालय कहें, कि सागर, मानव राधाकृष्णनन् ।।

"मादक" (प्रयाग)

वस्तुतः उपर्युक्त पंक्तियों में हमारे चरित-नायक का समस्त व्यक्तित्व अन्तर्निहित है । वास्तव में वह उन ऋषियों की परम्परा में आते हैं जो धर्म की प्रतिष्ठा के लिए यथासमय अपने ज्ञान-मार्तण्ड के द्वारा विश्व को आलोक प्रदान करते रहते हैं । इस

विज्ञान के युग में पारमार्थिक सत्ता की चर्चा की, दर्शन-सम्बन्धी विवेचना की, बहुत ही आवश्यकता थी। इस आवश्यकता को डा० राधाकृष्णनन् जैसे प्रभावशाली एवं प्रतिभाशाली व्यक्तित्व ही पूरा कर सकता था।

हमारे चरितनायक ने संसार की एक महती आवश्यकता की ही पूर्ति नहीं की है, अपितु देश के तिरोहित गौरव का आविर्भाव भी किया है। उन्होंने पाश्चात्य विज्ञान की भाषा में भारतीय दर्शन की व्याख्या की, और संसार के तथाकथित सभ्य देशों को बताया कि तुम्हें अभी भी भारतवर्ष से बहुत-कुछ सीखना है।

विज्ञान के इस युग में मानव कभी आकाश में उड़ने की बात करता है और कभी पाताल में विचरण करने के मन्सूबे बाँधता है। पृथ्वी पर पैर रखने की बात तो वह शायद ही कभी सोचता हो। डॉ० राधाकृष्णनन् ने मानव को जमीन की ओर आकर्षित किया और बताया कि जब तक तुम जमीन पर पैर रख कर चलने का अभ्यास न करोगे, तब तक तुम मानवता का दावा कदापि पूरा न कर सकोगे। मानव में मानवता जाग्रत करना मानव को राधा-कृष्णनन् की सबसे बड़ी देन है।

संस्कृत के किसी कवि ने लिखा है कि—

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ, ऊहवान् प्रतिभानवान्।
आशु ग्रंथस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते॥

अर्थात्—"जो वाणी, व्यवहार में कुशल, यथातथ्य वर्णन करने वाला, तर्क-वितर्क में प्रवीण, प्रतिभाशाली, ग्रंथ अभिप्राय को शीघ्र समझने वाला होता है, वही पण्डित कहलाता है।"

उपर्युक्त कथन डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णनन् के विषय में अक्षरशः चरितार्थ होता है। वह संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित हैं,

अँग्रेज़ी के ऊपर उनका पूर्ण अधिकार है, भारतीय दर्शन उनके लिए हस्तामलकवत् है और पाश्चात्य दर्शन में उनकी गहरी पैठ है। उनकी अतलदर्शी बुद्धि प्रत्येक विषय का ऐसा विश्लेषणात्मक निरूपण करती है कि देखते ही बनता है। व्यवहार में वह अत्यन्त मधुर एवं शिष्ट हैं तथा वाणी के ऊपर उनका अपूर्व संयम है। वह जब बोलते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानो कविता की शत-सहस्र धाराएें हमारे मानस को आप्लावित किए दे रही हैं। यदि भारतवर्ष में प्रचलित इस पुरानी लोकोक्ति को कि "वह जब बोलते हैं, तो फूल झड़ते हैं" उनके ऊपर लागू किया जाय, तो हमारे विचार से तनिक भी अत्युक्ति न होगी।

उनके व्याख्यान से प्रभावित होकर विलायत के दैनिक ऑक्सफोर्ड (Oxford daily) ने लिखा था कि "Though the Indian preacher had the marvellous power to weave a magic web of thought, imagination, and language, the real greatnees of his sermon resides in some indefinable spiritual quality which arrests attention, moves the heart and lifts us into an ampler air".

अर्थात् यद्यपि हम भारतीय प्रचारक को विचारों, कल्पना तथा भाषा के द्वारा एक विचित्र ताना-बाना बुनने की अद्भुत शक्ति प्राप्त है, तथापि उसका वास्तविक बड़प्पन कहीं भीतर निवास करता है जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती थी। यही इसकी वह अध्यात्मिक शक्ति है जो सबको अपनी ओर आकर्षित करती है, हृदय को प्रभावित करती है तथा हम संकुचित वायुमण्डल से ऊपर उठ कर उन्मुक्त वातावरण में ले जाती है।"

श्री राधाकृष्णनन् ने शिक्षा और राजनीति के क्षेत्रों में अनेक सेवाएं की हैं। इन क्षेत्रों में वह विभिन्न पदों पर रहे हैं और

विभिन्न रूपों में उन्होंने कार्य किया है। उनकी सेवाएँ जनोपयोगी हैं, उनके कार्य रचनात्मक एवं ठोस हैं। उन्होंने अपने बहुमूल्य एवं उपयोगी परामर्श द्वारा अगणित संस्थाओं को लाभान्वित किया है। उनके कई रूप हैं—दार्शनिक का रूप, सच्चे देश-सेवक का रूप तथा धारा-सभा के सदस्य का रूप। उनके व्यक्तित्व में इन तीनों रूपों का सुखद समन्वय हुआ है। अपने इन तीनों ही रूपों में वह सदा लोगों की सहायता करते रहते है। व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों ही रूपों में वह हर घड़ी सहायता करने को तैयार रहते हैं। उनके परामर्श से न मालूम कितने व्यक्तियों ने लाभ उठाया है और अपने जीवन को विकासशील बनाया है, उनका मशवरा लेकर न मालूम कितनी संस्थाएँ फूली-फलीं और उन्नत हुई हैं?

डा० राधाकृष्णनन् का दर्शन-शास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान एक प्रकार से अथाह है, सार्वजनिक जीवन से उनका पूर्ण परिचय है, जनता की नब्ज को वह खूब पहिचानते हैं, उनके बोलने का ढंग बहुत ही प्रभावशाली है। वह अपनी बात को बहुत ही भली प्रकार समझा कर इस प्रकार कहते हैं कि सुनने वाले इनके समर्थक बन जाते हैं अथवा उनके पक्ष में हो जाते हैं। अपने पक्ष के समर्थन में वह प्रामाणिक तथ्य उपस्थित करते हैं और फिर अपने अकाट्य तर्कों द्वारा वह श्रोताओं की विचारधारा पर गम्भीर प्रभाव डालते हैं। इन सब कारणों वश वह भारतीय जनता के गले का हार बन गए हैं। सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि वह राजनीतिक सुधारों तथा मानव-सेवा के बहुत ही समर्थ समर्थक हैं। वह हृदय से चाहते हैं कि राजनीति के क्षेत्र में नीति अथवा नैतिकता का समावेश हो जाए। उनकी सुनिश्चित धारणा है कि जब तक राजनीति में नीति का समावेश न हो जाएगा, तब तक विश्व का कल्याण न हो सकेगा।

व्यवस्थापक अथवा प्रबन्धक रूप में भी वह सर्वथा सफल हैं। वह जब कोई कार्य करते हैं, तो डटकर और जमकर। निर्णय करते समय वह सर्वथा निष्पक्ष और स्वतन्त्र रहते हैं। वह बिल्कुल तटस्थ होकर व्यवस्था-सम्बन्धी निर्णय करते हैं और फिर निर्भीकतापूर्वक, बिल्कुल निडर होकर उन निर्णयों को कार्यरूप में परिणत करते हैं, यानी उनके अनुसार कार्य करते हैं। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व में कोमलता और कठोरता का अपूर्व सामंजस्य है। विरुद्धों का यही सामंजस्य जीवन का सच्चा कर्म सौंदर्य है।

डा० राधाकृष्णनन् संसार को प्रमुख शिक्षा-शास्त्रियों में गिनती है। वह हमारे देश के एक जाने-माने शिक्षा-विशेषज्ञ हैं। वह राष्ट्रीय एकता के लिए, शिक्षा के प्रसार द्वारा समस्त देश-वासियों को एक सूत्र में बाँधने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं तथा अनवरत रूप से परिश्रम करते रहते हैं।

शिक्षा के प्रसार के अतिरिक्त वह सामाजिक-उत्थान में भी रुचि रखते हैं। समाज का कल्याण करने वाले प्रत्येक कार्य में वह अपना पूरा-पूरा सहयोग देते हैं। इस विषय में भी उनकी पूरी पैठ है। देश और विदेश—सब जगह के आदमी इस विषय में उनके परामर्श, उनके पथ-प्रदर्शन के इच्छुक और भूखे बने रहते हैं।

उनकी लौह-लेखनी में बहुत बल है, वह जिस बात को लिखते हैं, उसको पूरे अध्ययन के पश्चात् और पूरे अधिकार के साथ लिखते हैं। यही कारण है कि वह जो-कुछ लिखते हैं, सुस्पष्ट लिखते हैं, पूरी सामर्थ्य के साथ लिखते हैं। लेखनी के समान उनकी वाणी भी पूर्णतया सामर्थ्यवान् है। वह एक बहुत ही जोरदार भाषणकर्ता हैं। वह जब बोलते हैं तो धाराप्रवाह बोलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मेघगर्जन हो रहा है अथवा पुण्य-सलिला भागीरथी प्रवाहित हो रही है।

हमारे चरित्रनायक एक निर्भीक और निस्वार्थी देश-सेवक हैं। उनके व्यक्तित्व द्वारा उपस्थित उदाहरण के फलस्वरूप विदेशों में हमारे देश का मान और स्थान बहुत बढ़ गया है। जिस देश ने डा० राधाकृष्णनन् जैसा विद्वान्, देश-प्रेमी, दार्शनिक, व्यवस्थापक, वक्ता तथा आत्म-त्यागी एवं संयमी मानव को जन्म दिया हो, वह देश निश्चय ही आदर के योग्य है। कोई उन्हें कर्मयोगी कहता है और कोई उन्हें विदेह कहता है। भारतमाता ऐसे ही सपूतों से कह सकती है कि "हे वीर बालक! धन्य तुम, मेरी सफल सन्तान हो।"

डा० राधाकृष्णनन् ने एक स्थान पर लिखा है कि—

"जब मैं मद्रास क्रिश्चियन कॉलिज में १७ वर्ष का विद्यार्थी था और गणितशास्त्र और भौतिकशास्त्र, दर्शनशास्त्र तथा इतिहास में से एक विषय चुनने में असमर्थ-सा होगया था, उस समय मेरे एक चचेरे भाई ने, जिन्होंने उसी साल अपनी डिग्री प्राप्त की थी, अपनी दर्शनशास्त्र की पाठ्य पुस्तकें मुझे दे दीं। उन पुस्तकों ने मेरे भविष्य की रुचि को सुनिश्चित रूप से निर्धारित कर दिया (रुचि का वारा न्यारा किया)।"

इनके परिचय के अन्तर्गत, श्री जगन्नाथसिंह ने इन पर लागू करते हुए कतिपय महापुरुषों के सिद्धान्त वाक्य उद्धृत किए हैं। हम उनको ज्यों का त्यों उद्धृत करने के मोह का संवरण नहीं कर सकते हैं।

---

1 "He is incapable of any ungenerous thought and can encompass the whole humanity in his large heart. It is not possible for the country to find any other person to guide and to direct our activities except our Venerable Vice—President who is a Karmyogi (कर्मयोगी) and Videh (विदेह) and whose thoughts, words and Karma are as clean as mountain air."

(Page 24, Introduction, Dr. Sarvepalli RadhaKrishnan Edited by Jagannath Singh, 1953 Edition)

१—पृष्ठ सं० २८, परिचय, डा० राधाकृष्णनन जगन्नाथसिंह।

अतः हम उन्हें ज्यों का त्यों यहां नीचे देते हैं।[१] आशा है इन्हें पढ़कर-पाठक गण हमारे चरित-नायक के व्यक्तित्व की एक झाँकी पा सकेंगे। इनके आधार पर वे समझ सकेंगे कि डा० राधाकृष्णनन के व्यक्तित्व का निर्माण किस प्रकार के तत्वों द्वारा हुआ है। यथा—

उद्योग ही सच्चा पुरुषार्थ है, उद्योग ही आत्म-विकास का मूल-मंत्र है। I multiplied myself by activity (Napo-lean) अर्थात् नैपोलियन महान् का कहना था कि मैंने कर्मयोग से ही अपने को बहुगुणित किया है।"

प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् एवं लेखक ने लिखा है कि "जीवन का एक लक्ष्य बनाओ और उसके बाद ईश्वर ने तुम्हें जितना शारीरिक सम्बल और मनोबल दिया है, उसे कार्य-पूर्ति के निमित्त लगा दो।" यथा—

Have a Purpose in life and having it throw into your work such strength of mind and muscle as God has given you" (Carlyle)

अंग्रेजी के प्रसिद्ध आधुनिक नाटककार बर्नार्ड शॉ ने एक स्थल पर लिखा है कि—

The way to have a happy life is to be busy doing what you like all the time, having no time left to consider whilever you are happy or not" (George Bernard shaw)

अर्थात्—आनन्दमय जीवन बिताने का यही उपाय है कि मनुष्य तन्मय होकर अपने मनोनुकूल कार्य में व्यस्त रहे ताकि सुख-दुःख की चिन्ता के लिए उसके पास बिल्कुल समय ही न रह जाए।"

"बुद्धिः प्रभावतेजश्च सत्वमुत्थानमेव च

१—पृष्ठ सं० १८, २६ परिचय, डा० राधाकृष्णनन जगन्नाथसिंह।

व्यवसायश्च यस्य स्यत्तस्याऽवृत्ति भयं कुतः"

(महाभारत)

अर्थात्—बुद्धि, प्रभाव, तेज, बल, उठने की इच्छा, उद्योग ये सब जिस मनुष्य में हों, उसकी जीविका का क्या भय हो सकता है।"

(महर्षि व्यास)

'भारतीय दर्शन' के क्षेत्र में डाक्टर साहब का स्थान बहुत ही ऊँचा है। उसके सम्मेलन के वह चार बार अध्यक्ष रह चुके हैं। कलकत्ता के अधिवेशन में उनकी ६० वीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में उनको एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेट किया गया था। यह ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित है। इसमें भारतीय दर्शन तथा पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र के गण्य-मान्य विद्वानों के अधिकार-पूर्ण लेख संग्रहीत हैं। ग्रन्थ के दोनों भाग विश्व के दर्शन-शास्त्र का एक प्रकार से पुस्तकाकार विश्वविद्यालय है।

सन् १९५२ में अमेरिका में उनके दार्शनिक विचारों से सम्बन्धित एक बहुत ही मूल्यवान् पुस्तक प्रकाशित हुई थी।

डा० साहब के ऊपर विभिन्न विचारकों एवं दार्शनिकों का प्रभाव पड़ा है। उनकी तुलना मधु-मक्खी से की जा सकती है। विभिन्न फूलों के मधु को वह एक स्थान पर एकत्र करती है और मधु के लोभी उसका भोग करते हैं। ठीक इसी प्रकार डा० राधाकृष्णनन ने विभिन्न ग्रन्थों का प्रणयन एवं मन्थन करके उनके साररूप ज्ञान को विश्व में विकीर्ण किया है। उन्होंने इस विषय में स्वयं लिखा है और स्पष्ट शब्दों में लिखा है।[1] उसका हिन्दी में अनूदित सारांश निम्नलिखित प्रकार है—

---

[1] Chapter I "How I came to study philosophy" by Paul Arthur Schilpp in the Library of Living philosophers. Published by the Tudor Publishing company, New York.

"मैं यद्यपि भारतवर्ष के आर्षऋषियों तथा पाश्चात्य देशों के आधुनिक विचारकों का सदैव प्रशंसक रहा हूँ, तथापि यह नहीं कहा जा सकता है कि मैं उनमें किसी का अनुयायी हूँ अथवा उनमें से किसी एक महानुभाव के विचारों को मैंने अक्षरशः, ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। मेरे इस कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि मैंने अन्य लोगों के विचारों से लाभ नहीं उठाया है, उनसे कुछ भी नहीं सीखा है अथवा मैं उनसे प्रभावित नहीं हुआ हूँ। मैंने प्रायः प्रत्येक ग्रन्थ के लेखक से कुछ न कुछ सीखा है, मैंने जितने भी ग्रन्थ पढ़े उनमें प्रायः प्रत्येक ने मुझे प्रेरणा प्रदान की; परन्तु मेरी विचार-धारा प्रायः एक भिन्न दिशा में ही रही है। मेरे आन्तरिक अनुभूति उसके मूलाधार रहे हैं। आप सहमत होंगे कि आन्तरिक अनुभूति अध्ययन और प्रणयन से सर्वथा पृथक वस्तु ही है। इस आन्तरिक अनुभूति का स्रोत मेरे आध्यात्मिक अनुभव रहे हैं। दर्शन का जन्म सत्यानुभाव के फलस्वरूप होता है, न कि सत्य की खोजों के इतिहास के अध्ययन के फलस्वरूप। मैंने जीवन को जैसा जो कुछ भी समझा है, उसको मैंने अपने लेखों में लिखने का प्रयास किया है। मैं नहीं कह सकता हूँ कि इस दिशा में मुझे किस हद तक और कितनी सफलता प्राप्त हो सकी है।

× × ×

मैं इतने वर्षों से संसार के विभिन्न देशों में घूमता फिर रहा हूँ और विभिन्न रूपों में कुछ न कुछ काम कर रहा हूँ। इस कारण मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा है कि मैं एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति कर रहा हूँ। सम्भवतः मेरे जीवन का यही उद्देश्य है कि मैं संसार के शत-सहस्त्र प्राणियों को अध्यात्म-भावना का महत्त्व समझाता रहूँ।

× × ×

मैं बहुत दिनों तक अपने घर से बहुत दूर विदेशों में रहा हूँ, इंगलैण्ड, फ्रांस, अमेरिका और रूस की यात्रा मैंने कई बार की है, परन्तु सबसे अधिक मैं इंगलैण्ड में रहा हूँ। इंगलैण्ड के निवासियों की न्यायप्रियता ने, दलितों के प्रति उनकी सहानुभूति ने तथा कठमुल्लापन के प्रति उनकी घृणा ने मुझको बहुत प्रभावित किया है। वहाँ के All souls College ने मुझे अंग्रेजों की विचारधारा से परिचित कराया है। उसने मुझे इंगलैण्ड के निवासियों जैसी सतर्कता, उन जैसा धैर्य, आत्म-विश्वास तथा साहस प्रदान किए हैं।"

स्वामी विवेकानन्द तथा कवीन्द्र रवीन्द्र ने डाक्टर साहब को सम्भवतः सर्वाधिक प्रभावित किया है। अपने ऊपर पड़ने वाले प्रभावों के सम्बन्ध में डा० साहब ने स्वयं सविस्तार लिखा है। यथा—

मैंने ईसाई पादरियों द्वारा स्थापित स्कूल और कॉलेज में शिक्षा पाई। यह वह अवस्था थी जबकि व्यक्ति के ऊपर गहरे संस्कार पड़ते हैं। मुझको बाइबिल New Testament से ही भली प्रकार परिचय नहीं हुआ, बल्कि मैंने ईसाई पादरियों द्वारा हिन्दू-धर्म के विश्वासों एवं कर्म-काण्डों के विरुद्ध कटु आलोचनाएँ भी सुनीं। स्वामी विवेकानन्द के जोरदार व्याख्यानों का मेरे ऊपर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा। उसने मेरे सुषुप्त हिन्दुत्व को जाग्रत कर दिया। ईसाई पादरियों की संस्थाओं में हिन्दुओं और उनके धर्म के प्रति जो व्यवहार होता था, उसको देखकर मैं विचलित हो उठा। मैं यह मानने के लिए कदापि तैयार न था कि हमारे आर्ष ऋषि मुनि, जिनका हमारी जातीयता की आधारशिला आर्य संस्कृति के साथ सीधा सम्बन्ध था, वे लोग सच्चे अर्थ में धार्मिक नहीं थे। × × मैं यह जानता हूँ कि हमारे देश के निवासी अनेक प्रकार

के वहम करते हैं, परन्तु मैं यह मानने को तैय्यार नहीं हूँ कि वे धर्म-भावना से सर्वथा रहित हैं।

ईसाई पादरियों ने मेरे भीतर हलचल पैदा कर दी थी। उधर स्वामी विवेकानन्द ने मेरे हिन्दुत्व को जगा दिया। फलस्वरूप मैंने हिन्दूधर्म और दर्शन के अध्ययन का संकल्प किया और मैं यह जानने के लिए प्रयत्नशील हो उठा कि वास्तविकता क्या है। उसमें क्या जीवित है और क्या मृत है। मैंने मद्रास विश्वविद्यालय में बी० ए० तथा एम० ए० की कक्षाओं में दर्शनशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया।[1] × × × ×

एम० ए० की परीक्षा पास करने के लिए एक प्रबन्ध Thesis लिखना पड़ता था। मैंने वेदान्त की नैतिकता Ethics of the Vedanta विषय पर प्रबन्ध प्रस्तुत किया। वह प्रबन्ध वास्तव में उन ईसाई पादरियों के लिए एक करारा जबाब था, जो यह कहते थे कि वेदान्त-दर्शन में नैतिकता, लोक-व्यवहार के लिए कोई स्थान नहीं था। यह सन् १९०८ की बात है। उस समय मेरी अवस्था लगभग २० वर्ष की थी। × × यह जानकर मुझको बहुत आश्चर्य हुआ कि हमारे स्वनाम धन्य प्रोफेसर (अब मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज के प्रिन्सिपल) श्री ए० जी० हौग को वह प्रबन्ध बहुत पसन्द आया। × × उन्होंने प्रसन्न होकर मुझको एक प्रमाण-पत्र भी दिया था—जो मेरे पास अभी तक सुरक्षित है।[2]

हिन्दू-धर्म द्वारा प्रतिपादित नैतिकता एवं मायावाद के विषय में मुझको रवीन्द्रनाथ टैगोर के लेखों में बहुत सामग्री मिली और उसने मुझको बहुत सहारा दिया। श्री टैगोर के ग्रन्थों को पढ़कर

---

१ पृष्ठ सं-१-.१० My Search for Truth.

२ पृष्ठ संख्या १४१५ वहीं से उद्धृत।

मुझे जो कुछ मिला, वह लन्दन के मैकमिलन नाम के प्रकाशक द्वार प्रकाशित पुस्तक में एकत्र है। उस पुस्तक में मेरे युवा जीवन की अपरिपक्व बुद्धिजन्य समस्त त्रुटियाँ होनी चाहिएँ। परन्तु सौभाग्य की बात कि उस पुस्तक का बड़ा स्वागत हुआ—लोगों ने उसको बहुत पसन्द किया। स्वयं कवीन्द्र ने अत्यन्त उदारतापूर्वक उसको देखा। दिसम्बर सन् १९१८ में उन्होंने मुझको लिखा था कि:—

"Though my criticism of a book that concern me may not be seriously accepted, I can say that it has surpassed my expectation. The earnestness of your endeavour and your penetration have amazed me, and I am thankful to you for the literary grace of its language which is so beautifully free from all technical jargon and a mere display of scholarship."

अर्थात्, "यद्यपि उस पुस्तक के सम्बन्ध में मेरी आलोचना, जिस का सम्बन्ध मुझ से है, लोगों की नजर में विशेष महत्त्वशाली नहीं समझी जाएगी, तथापि मैं यह कहने को बाध्य हूँ कि यह आशातीत है। तुमने जिस सच्चाई, परिश्रम और सूक्ष्मता के साथ इसको लिखा है, उसको देखकर मैं चकित रह गया हूँ। भाषा के लिए तो मैं तुमको बधाई देता हूँ। वह बहुत ही साहित्यिक एवं सुन्दर है, साथ ही पारिभाषिक शब्दों की कर्ण-कटुता से मुक्त और पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से दूर है।"

× × × ×

दर्शन और धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्ट रूप जानने के लिए डा० राधाकृष्णनन ने भारतीय ग्रन्थों के अतिरिक्त पश्चिम के प्रायः समस्त गण्यमान्य लेखकों एवं विचारकों का अध्ययन किया

है। जैसे-लैवनीज, जेम्सवार्ड, विलियम जेम्स, बर्ट्रेन्ड रशल, लौर्ड बैलफेयर आदि।

डा० साहब ने स्वयं लिखा है कि इस अध्ययन के फलस्वरूप मैंने सन् १६२० में The Reign of Religion in Contemporary Philosophy नामकी पुस्तक लिखी। पुस्तक का देश-विदेश सब जगह स्वागत हुआ। लोग मुझ को लेखक के रूप में जानने लगे। अमरीका की संस्था Philosofical Association ने महान् दार्शनिक Bosanquet के साथ मेरी गणना कर डाली।

× × × ×

इंगलैण्ड में ईसाइयों की सभा में व्याख्यान देना मेरे लिए एक विचित्र अनुभव था। यह जान कर मुझको बहुत ही प्रसन्नता होती थी कि मेरे व्याख्यान ईसाई पादरियों को भी रुचिकर प्रतीत होते थे।

कहने वाले कह सकते हैं कि उन्हें इस बात का गर्व होगा कि वह ईसाई पादरियों के गाल पर तमाचा मार रहे थे। हमारे विचार से वह इसलिए प्रसन्न होंगे क्योंकि भारत-माता का मस्तक ऊँचा हो रहा था—भारतीय शिक्षकों का सिक्का जम रहा था। अस्तु।

हमारे चरितनायक किसी भी राजनीतिक संस्था के कभी भी सदस्य नहीं रहे हैं।

उत्तर-प्रदेश के भूतपूर्व स्वशासन मन्त्री श्री मोहनलाल गौतम ने श्री राधाकृष्णनन् को फतेहपुर में अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने के अवसर पर ठीक ही लिखा था कि—"डा० राधाकृष्णनन् भारत

1—Page 34 My search for Truth.

की उन कुछ अन्यतम विभूतियों में से हैं जो अपनी अपार बौद्धिक योग्यता को समयानुकूल सार्थक करने में कुशल सिद्ध हुए हैं। यद्यपि साधारण भाषा में जिसे राजनीतिज्ञ समझा जाता है, वह उस प्रकार के राजनीतिज्ञ नहीं हैं, फिर भी आज वह भारतीय राजनीति में सक्रिय रूप से विराजमान हैं। उनका यथार्थवादी राष्ट्रीय दृष्टिकोण भारतीय गणराज्य की राजनीति, उसके व्यवहार और उसके क्रियात्मक आदर्श के सर्वथा अनुरूप है। विभिन्न संस्कृतियों की संगममयी इस भारतभूमि में जहाँ दर्शन और राष्ट्रीय परम्पराओं का सुन्दर समावेश सदा से रहा है, उनका अस्तित्व और उनकी वर्तमान पद-प्रतिष्ठा हमारे राष्ट्र और राष्ट्रवासियों के लिए परम सौभाग्य की बात है।

\+ + + +

इसमें सन्देह नहीं कि भारत के भविष्य-निर्माण में उनका बौद्धिक सहयोग इस राष्ट्र के सांस्कृतिक, बौद्धिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में एक अनुपम कृति होगी।

डा० राधाकृष्णनन् वास्तव में एक सच्चे हिन्दू अथवा भारतीय हैं। औक्सफोर्ड के मैनन्चेस्टर कॉलेज में अभिभाषण करते हुए उन्होंने एक बार स्पष्ट कहा था कि—

शताब्दियों की लम्बी निद्रा के बाद हम हिन्दू-धर्म के निर्णया-त्मक युग में हैं। हम लोग अनुभव करते हैं, कि हमारे धार्मिक कानन के बहुत से वृक्ष मर गए हैं, और कुछ रोगा-क्रान्त हैं, जिन्हें साफ करना ही होगा। हिन्दू-धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों को छोड़ने का समय नहीं अपितु हमें नये सिरे से उनकी व्याख्या करनी है।

: २ :

जीवन-चरित्र

जन्म—भारतवर्ष के उपराष्ट्रपति, अथवा उपराष्ट्र-नायक डा० राधाकृष्णनन् का जन्म ५ सितम्बर सन् १८८८ को मद्रास प्रान्त के चित्तूर जिले में तिरुतनी (Tirutani) नामक एक छोटे से ग्राम में हुआ था। यह गाँव मद्रास से उत्तर की ओर लगभग ४० मील की दूरी पर स्थित है। इस प्रकार डा० राधाकृष्णनन् दक्षिण भारत के निवासी हैं। वैसे, सम्पूर्ण भारत उनका है और वह भारत के हैं, तथा वह भारतवर्ष के एक प्रसिद्ध एवं सम्माननीय नागरिक हैं।

वह अपने माता-पिता की दूसरी संतान हैं। उनके माता-पिता बड़े ही धार्मिक थे। उनकी आर्थिक स्थिति साधारण थी। इस प्रकार इस महान दार्शनिक का जन्म जिन परिस्थितियों में हुआ, वे सामान्य थीं। उन्हें जन्म-सिद्ध कोई विशेष सुविधा प्राप्त न थी।

तिरुतनी और तिरुपति—ये दोनों स्थान धार्मिक दृष्टि से सदैव महत्त्वपूर्ण रहे हैं। सैकड़ों यात्री वहाँ प्रतिवर्ष धर्म-यात्रा की दृष्टि से जाते हैं—इन दो गाँवों का धार्मिक दृष्टि से पहले भी महत्त्व था, और अब भी महत्त्व है। हमारे चरित्र-नायक का बाल्य-काल प्राय: इन्हीं दो गाँवों में व्यतीत हुआ था। बारह वर्ष की अवस्था तक वह यहीं रहे थे। इस प्रकार इनके व्यक्तित्व के निर्माण में धर्म-भावना का महत्वपूर्ण योग रहा है। जीवन के आरम्भिक १०-१२ वर्ष हमारे मन-मानस पर गहरा प्रभाव डालते हैं। इस काल में

पड़े हुए प्रभाव एक प्रकार से संस्कारों का रूप धारण कर लेते हैं। वह सीमेंट की तरह मन-मानस के ऊपर जम जाते हैं। आगे के जीवन के थपेड़े बजाय वहा ले जाने के इन्हें चट्टान की तरह दृढ़तर ही बना देते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार पानी पड़ने से सीमेंट दिनोंदिन मजबूती के साथ जमता जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि हमारे दार्शनिक एवं राजनीतिज्ञ उपराष्ट्रपति के रक्त में आरम्भ से ही धर्म-निष्ठा के अँकुर पल्लवित होने लगे थे। वे ही अंकुर वट-वृक्ष के रूप में विकसित होकर आज संतप्त संसार को शीतलता प्रदान कर रहे हैं।

हमारे चरित-नायक की आरम्भिक शिक्षा भी वहीं तिरुपति में ही हुई। आठ वर्ष की अवस्था में वह लूथरन मिशन हाईस्कूल (Lutheran Mission High School, Tirupati) में भर्ती हुए। वहाँ लगभग चार वर्ष पढ़े। उसके बाद सन् १६०० में वैलोर के वूहिस कौलेज Voorhees College, Vellore में दाखिल हुए। इस संस्था में इन्होंने लगभग चार वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद सन् १६०५ में यह मद्रास के क्रिश्चियन कौलेज (Madras Christian College) में बी० ए० में भर्ती हुए। यहाँ कौलेज में बी० ए० में कुछ वैकल्पिक विषय अनिवार्य थे। पांच विषयों में से इन्हें अपने लिए विषय चुनने थे। इस कार्य में इन्हें काफ़ी कठिनाई हुई। संकल्प-विकल्प में इनका बहुत सा समय निकल गया। इन्हीं दिनों इनके चचेरे भाई ने पढ़ने के लिए इन्हें पुस्तकें भेजीं। इन किताबों को पढ़कर एक प्रकार से इन्होंने

---

१ डा० राजेन्द्र प्रसाद राष्ट्रपति हैं।

२ उन्होंने स्वयं लिखा है कि" I have not had any advantage of birth ro of wealth, page 1, 'My Search for Truth.

अपना भविष्य निश्चित कर लिया। इन्होंने तय कर लिया कि इनकी विशेष रुचि दर्शनशास्त्र में थी, और इन्हें भविष्य में दर्शन का ही विशेष रूप से अध्ययन करना था।

सन् १६०८ में श्री राधाकृष्णनन् M. A. की परीक्षा के लिए तैयारी कर रहे थे। M. A. की उपाधि के लिए इन्होंने प्रबन्ध (Thesis) लिखा। प्रबन्ध का विषय वेदान्त से सम्बद्ध था। 'प्रोफेसर ए० जी० हौग (A. G. Hogg) ने इनका वह प्रबन्ध देखा। प्रोफेसर हौग कौलेज के प्रिन्सिपल भी थे। प्रो० हौग अपने समय के एक बहुत बड़े वेदान्ती माने जाते थे। अध्यात्म-सम्बन्धी उनका ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। साथ ही, वह एक बहुत बड़े विचारक भी थे। प्रबन्ध को पढ़कर वह अत्यधिक प्रभावित हुए। प्रबन्ध के परीक्षक के रूप में उन्होंने जो प्रमाण-पत्र लिखा था, वह मानों एक प्रकार से इस महान दार्शनिक के जीवन के सम्बन्ध में सफल भविष्य-वाणी थी। उस प्रमाण-पत्र में प्रोफेसर हौग ने मानों सर्वपल्ली राधाकृष्णनन् का भविष्य ही लिख कर रख दिया था। यथा----

"अपने अध्ययन के दूसरे वर्ष में इस विद्यार्थी ने अपनी उपाधि के लिए जो प्रबन्ध लिखा है, उसको देखकर यह विदित होता है कि दार्शनिक समस्याओं में इसकी गहरी पैठ है, दर्शन से सम्बन्धित प्रमुख बातों को यह भली प्रकार समझता है, साथ ही यह भी स्पष्ट है कि यह विद्यार्थी उलझन पैदा करने वाले तर्कों को भली प्रकार सुलझा सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि अँग्रेजी

---

1 (a) G. F. Stout's Manual of Psychology
  (b) G. Welton's logic (in two volumes)
  (c) G. S. Mackenzie's Manual of Ethics

2. The Ethics of the Vedanta and its Metaphysical Presup position."

भाषा के ऊपर उसका पूर्ण अधिकार है।"[1] सन् १६०८ में उनके दो लेख प्रकाशित हुए थे, जिनकी ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ और इस उदीयमान दार्शनिक की ओर लोगों की नज़र जमने लगी थी। अप्रैल सन् १६०६ में मद्रास प्रेसीडेन्सी कौलेज में वह दर्शन-शास्त्र के अध्यापक नियुक्त हो गए। ७ वर्ष तक, सन् १६१६ तक वह इस पद पर कार्य करते रहे। सन् १६१६ में वह कौलेज के दर्शन-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त कर दिए गए। मद्रास प्रैसीडैंसी कौलेज में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में उन्होंने सन् १६१७ के अन्त तक कार्य किया। इस पद का भार उन्होंने बहुत ही योग्यता एवं क्षमता के साथ सम्हाला। एक कुशल प्रोफेसर एवं अध्यापक के रूप में उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। सन् १६१८ में उनकी नियुक्ति मैसूर विश्व विद्यालय में दर्शन-विभाग के प्रोफेसर (अध्यक्ष) के पद पर हुई। सन् १६२१ तक उन्होंने इस पद पर कार्य किया। इसके पश्चात् वह कलकत्ता विश्वविद्यालय में पंचम-जार्ज प्रोफेसर[3] के रूप में नियुक्त हुए। इस पद पर उन्होंने सन् १६३१ तक कार्य किया। सन् १६३७ में वह फिर इस पद पर दुबारा नियुक्त किए गए थे। और सन् ३७ से सन्, १६४१ तक उस पद पर कार्य करते रहे थे। सन् १६३१ से लेकर सन् १६३७ तक,

---

1. 'The thesis which he prepared in the second year of his study for the degree shows a remarkable understanding of the main aspects of the philosophical problem and a capacity for 'handling easily a complex argument. Besides, it shows his mastery over the English language."

2 (a) Karma and Free Will
 (b) The Vedas and Six systems

3. George V Professor of Philosophy

इन बीच के ६ वर्षों में, वह आन्ध्र विश्वविद्यालय के उपकुलपति (Vice-Chancellor) के रूप में कार्य करते रहे थे।

यहाँ एक बात की ओर संकेत कर देना परम आवश्यक प्रतीत होता है कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के अपने प्रथम कार्य-काल में—सन् १९२१ से सन् १९३१ तक की अवधि में—वह दो बार विलायत गए थे। इंगलैंड के शिक्षा-जगत् ने उनको दो बार आमन्त्रित किया था। सन् १९२६ में मैनचैस्टर कॉलेज ऑक्सफोर्ड (Manchester College, Oxford) की ओर से वह बुलाए गये थे और सन् १९२९-३० में हिबर्ट लैक्चरर (Hibbert lecturer) के रूप में उनको आमन्त्रित किया गया था।

सन् १९३९ में महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय सख्त बीमार होगए थे। उस समय उन्हें अपने हिन्दू-विश्वविद्यालय, बनारस की चिन्ता ने घेर लिया था। जैसा सर्व-विदित है, हिन्दू विश्वविद्यालय मालवीय जी का प्राण था, उनका सर्वस्व था। अतः उसके विषय में उनका चिन्ताग्रस्त हो जाना सर्वथा स्वाभाविक ही था। उनको इस बात की बहुत फिक्र थी कि विश्वविद्यालय को किन्हीं सुयोग्य हाथों में सौंप दिया जाय ताकि विश्वविद्यालय के भविष्य और उसकी सुरक्षा की ओर से वह निश्चिन्त हो जाएँ। उन्हें श्री राधाकृष्णनन् का ध्यान आगया। श्री राधाकृष्णनन् से अधिक योग्य एवं क्षमतावान् व्यक्ति उन्हें कहाँ मिल सकता था? उन्होंने तुरन्त ही श्री राधाकृष्णनन् के पास सन्देश भेजा और किसी प्रकार हिन्दू-विश्वविद्यालय का उपकुलपति होने के लिए राजी कर लिया। सन् १९३९ से सन् १९४८ तक पूरे ९ वर्षों तक हमारे चरित-नायक उस पद पर रहे और पूरी योग्यता और लग्न के साथ विश्वविद्यालय की सेवा करते रहे। इनके हाथों में हिन्दू-विश्वविद्यालय

सचमुच पूर्णतया सुरक्षित रहा था। महामना का आत्मा सचमुच संतुष्ट एवं तृप्त होगया होगा। इस बीच में उपटन तथा हस्कल योजना के अन्तर्गत वह "धर्म का तुलनात्मक अध्ययन" विषय पर व्याख्यान भी देते रहे थे।[१]

सन् १९३६ में वह अखिल भारतीय दर्शन महासभा[२] के अध्यक्ष थे तथा साथ ही भारतीय धर्म तथा नैतिकता के स्पौल्डिंग प्रोफेसर भी रहे थे।

शिक्षा-क्षेत्र के अतिरिक्त भी इनको अनेक महत्वपूर्ण पदों का भार दिया जा चुका है। सांस्कृतिक उत्थान, नैतिक शिक्षा आदि इनके प्रिय विषय रहे हैं और इन क्षेत्रों में डा० राधाकृष्णनन् ने अनेक महत्वपूर्ण पदों पर रह कर समाज और संसार की बहुत ही महत्वपूर्ण और उपयोगी सेवा की है। यथा (१) सन् १९३१ में वह अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता (International Cooporation) के सदस्य नियुक्त हुए थे। इस पद पर उन्होंने सन् १९३९ तक कार्य किया था। इसी बीच में भारतवर्ष की ओर से संयुक्तराष्ट्र संघ की शिक्षा, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिषद् [U. N. E. S. C.O] में एक शिष्ट-मण्डल (Delegation) गया था। श्री राधा-कृष्णनन् उसके साथ अध्यक्ष के रूप में गए थे।

(२) सन् १९४८ में हमारे चरितनायक उपर्युक्त संस्था U. N. E. S. C. O. की कार्य-कारिणी-समिति के अध्यक्ष निर्वाचित हुए थे।

1—During this period he continued the Upton Lecturer-ship and Hascal lecturer-ship in comparative Religion (Page 9 Introduction Dr. sarvopalli RadhaKrishnan edited by Jagannath singh)

2—President of Indian Philosophical Congress.

3—Spalding professor of Eastern Religion and Ethics.

(३) सन् १९४८ के आसपास भारत सरकार ने विश्वविद्यालयों की दशा तथा गतिविधियों की जाँच पड़ताल करने के लिए एक आयोग (University Commission) की नियुक्ति की थी। डा० राधाकृष्णनन् को ही इस आयोग के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित किया गया था।

(४) वह देश की विधान-सभा (Constituent Assembly) के सदस्य थे। इस प्रकार वह हमारे देश का विधान बनाने वालों में है अर्थात् देश के भाग्य-विधाताओं में हैं।

(५) वह बंगाल की रौयल ऐशियाटिक सोसाइटी (Royal Asiatic Society) के सम्मान्य सदस्य हैं।

(६) सन् १९४९ में वह भारतवर्ष के राजदूत (Ambassador) के रूप में रूस गये थे। वहाँ अपने कार्य में इन्हें आशातीत सफलता प्राप्त हुई थी। स्वर्गीय श्री स्टैलिन ने स्वयं दो बार इनका स्वागत किया था। यह एक अपूर्व सम्मान था। श्री स्टैलिन द्वारा इस प्रकार सम्मानित होने का गौरव किसी भी देश के किसी अन्य राजदूत को प्राप्त नहीं हुआ है—न इनके पहिले और न इनके बाद।

(७) सन् १९५२ में यह सर्व सम्मति से भारतवर्ष के उप राष्ट्रपति (Vice President) निर्वाचित हुए। समस्त देश ने इस निर्वाचन का एक स्वर से स्वागत किया था।

(८) सन् १९५३ में अमरीका के राष्ट्रपति के विशेष निमन्त्रण को स्वीकार करते हुए यह पश्चिमी देशों का दौरा करने के लिए गए थे। अपने इस दौरे में इन्होंने अनेक महत्वपूर्ण एवं सारगर्भित व्याख्यान दिए। वहाँ के निवासियों ने इन व्याख्यानों को बड़े आदर के साथ सुना, उनका हृदय से स्वागत किया तथा मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशंसा की।

(६) ३ जून सन् १९५३ को हार्वार्ड विश्वविद्यालय (Harward University) ने आपको (Doctor of laws) की उपाधि से विभूषित करके अपना गौरव बढ़ाया। उक्त विश्वविद्यालय के समस्त अधिकारियों ने एक स्वर से इस उपाधि के लिए सिफारिश की थी, तथा विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी समिति—जिसमें विभिन्न विभागों के प्रतिनिधि सदस्य हैं—सर्वसम्मति से उस प्रस्ताव को स्वीकार किया था। यह कोई कम गौरव की बात नहीं है ? इसके कारण हमारे देश का बहुत सम्मान बढ़ा। भारतमाता को ऐसे सपूत पर गर्व हैं। हमें भी इस बात का गर्व है कि हमारे देश ने ऐसे नर-रत्न एवं विश्व-मान्य दार्शनिक को उत्पन्न किया है। डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णनन् को उपाधि से विभूषित करते समय विश्व-विद्यालय के अध्यक्ष ने जो वाक्य कहे थे, वे बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। उन्हें पढ़ कर हमारा मस्तक गर्व से ऊँचा उठ जाता है। देश और देशवासियों को उन पर गर्व है। इन वाक्यों को हमने ज्यों का त्यों अन्यत्र उद्धृत किया है।[१] इसके ठीक तीन दिन पीछे ही ८ जून सन् १९५३ को औबर्लिन कॉलेज (Oberlin College) ने भी इनको डॉक्टर ऑफ लॉ (Doctor of laws) की उपाधि से विभूषित किया।

डा० राधाकृष्णनन् को देश में और विदेशों में अनेकों बार तथा विभिन्न शिक्षा संस्थाओं द्वारा इस प्रकार की सम्मानीय उपाधियों (Honorary Degrees) द्वारा विभूषित किया जा चुका है।

जून सन् १९५६ में वह फिर पाश्चात्य देशों का दौरा करने के लिए गए थे। ६ सप्ताह तक अमेरिका के निवासियों को शान्ति का संदेश देकर उन्होंने अपने देश का विदेशों में मान बढ़ाया !

---

१ देखें "शिक्षा के क्षेत्र में" वाला प्रकरण।

डा० राधाकृष्णनन् का मस्तिष्क अत्यन्त विकसित है और हृदय परम उदार है। छोटी बात उनके पास फटक तक नहीं सकती है। ज्ञान और विनय विद्या के दोनों ही प्रसाद, उन्हें प्राप्त हैं। आपका पारिवारिक जीवन बहुत ही सुखी रहा है और है। आपके पारिवारिक जीवन के सुख-चैन को देख कर आपको अंग्रेजी की निम्नलिखित कहावत का बरबस स्मरण हो आयगा—

"A happy family is an earlier heaven"

अर्थात् सुखी एवं आनन्दमय पारिवारिक जीवन स्वर्ग का प्रथम रूप है अथवा तात्कालिक स्वर्ग है।

श्री राधाकृष्णन् ने लिखा है कि—"मुझे अपने बचपन के बाद के जीवन में दार्शनिक हैगेल का यह कथन प्रायः स्मरण रहा है कि अगर मनुष्य को अपनी रुचि के अनुकूल पत्नी मिल जाय जिससे वह प्रेम कर सके, तो यह उसके जीवन की एक बहुत बड़ी सफलता है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि हमारे चरितनायक को इस दिशा में अनायास ही शत-प्रतिशत सफलता की प्राप्ति हुई है।*

---

*दुख विषय है कि पिछले नवम्बर, ५६ की २६ तारीख सोमवार के दिन प्रातः पौने छः बजे आपकी पत्नी (श्रीमती शिवकमु अम्मा) का भागलपुर (मद्रास) में रक्तविरोध से ६३ वर्ष की अवस्था में देहान्त होगया।

श्रीमती राधाकृष्णनन् का स्वास्थ्य काफी अच्छा था। पिछले अगस्त्बर ५६ की ५ तारीख को रक्ताविरोध से पीड़ित हुई थीं। डा० साहब उस समय जापान की यात्रा कर रहे थे। पत्नी की बीमारी की सूचना पाते ही वह तुरन्त ही टोकियो से हवाई जहाज द्वारा लौट आए थे और उस समय श्रीमती राधाकृष्णनन् का स्वास्थ्य ठीक हो गया था। परन्तु लगभग १½ मास पीछे अचानक ही यह दुर्घटना घट गई।

डा० राधाकृष्णनन् के ६ सन्तान हैं-एक पुत्र और पांच पुत्रियाँ। पुत्र का नाम डा० गोपाल है। उन्होंने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय लन्दन से एम० ए० और पी०एच-डी० की उपाधियां प्राप्त की हैं। आरम्भ में आपने कुछ समय तक आन्ध्र विश्व-विद्यालय में अध्यापक (प्रोफेसर) के पद पर कार्य किया। अब आजकल आप भारत सरकार के पुरातत्व विभाग में एक उच्च पद पर प्रतिष्ठित हैं।

२

शिक्षा के क्षेत्र में

हम 'जीवन चरित्र' वाले प्रकरण के अन्तर्गत डा० राधाकृष्णनन् की शिक्षा-दीक्षा आदि के विषय में सविस्तर लिख चुके है। हम यह भी लिख चुके है कि लगभग ३० वर्षो तक उन्होने विभिन्न विश्वविद्यालयो में अध्यापक के पद पर कार्य किया है और प्रोफेसर अथवा अध्यापक के रूप में उन्होने देशव्यापी-देशव्यापी ही नहीं, विश्वव्यापी ख्याति प्राप्त की।

इसके अतिरिक्त वह ६ वर्षो की दीर्घ अवधि तक बनारस के हिन्दू विश्व-विद्यालय के उपकुलपति भी रहे है। इतना ही नही, वह देश तथा विदेश की अनेक शिक्षा संस्थाओ एव समितियो मे अनेक महत्वपूर्ण पदो पर रह कर शिक्षा जगत् की बहुत ही उपयोगी सेवा कर चुके है।

हम यह भी लिख चुके है कि उनकी योग्यता से प्रभावित होकर तथा मानव-समाज के प्रति उनकी सेवाओ को देखकर अमरीका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय ने उन्हे डाक्टर ऑफ लॉ (कानून-Laws) की उपाधि से विभूषित करके विश्व के एक बहुत बड़े दार्शनिक एवं दर्शन-शास्त्री को सम्मानित किया था। हमारे विचार से यह सम्मान डा० राधाकृष्णनन् का व्यक्तिगत सम्मान होने के अतिरिक्त इस तथ्य का द्योतक है कि भारतीय दर्शन पश्चिम को किस प्रकार सुख-शान्ति प्रदान कर सकता है। इतना ही नही उक्त

सम्मान के द्वारा यह भी प्रकट हो जाता है कि विज्ञान की अपेक्षा दर्शन कहीं अधिक विश्व का कल्याण करने में समर्थ है ।

उपाधि से विभूषित करते समय, विश्वविद्यालय के अध्यक्ष ने बहुत ही महत्वपूर्ण शब्द कहे थे। यथा—

"You are to-day the world's most distinguished and inspiring example of the philosopher who has become a statesman and, in your exercise of function of philosopher statesman, you have become a world peace maker of the highest human significance.

There is no thinker alive in the world to-day who understands and appreciates better than you do the contrasting institutions, religions and philosophies of the East and of the West, and the deep lines of Kinship which underlie them, for you have made this knowledge and this understanding the chief concern of a lifetime study whose fruits command the respect and the esteem of scholars all over the world.

That such a man now presides over the Upper House of the Parliament of India and as a major participant in the policy making function of that great and newly free republic, may come to have a determining influence on the course of affairs all over the world.

It is a great and inspiring thing that this man is a Maker of Peace, not only with the determination of political intent but with the deepest con-

victions of a heart informad by a comprehensive understanding of all the issues at stake in our-perilous world.

In a world that is being hurried fast towords destruction by a bitter partisanship which seeks to drive us all into two irreconcilable camps, you have stood at the crossways, seeking to have us all understand one another and to confer with one another.

"There is no outstanding problem now dividing the world", you have repeatedly said, "which could not be settled by discussion and negotiation". Every effort should be made, "you have said, to get top people together."

In a world so prone to believe that East is East and West is West and never the twain shall meet, you are an ambassador of that understanding which

१—यह उद्धरण अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि Rudyard Kipling की कविता से लिया गया है। यह कविता का पूर्वार्द्ध है। उत्तरार्द्ध कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। यथा—

Oh, East is East, and West is West, and never the twain shall meet,
Till Earth and Sky stand presently at God's great Judgment seat.
But there is neither East nor West, Border, nor Breed, nor Birth,
When two strong men stand face to face tho'they come from the ends of the Earth!"

Blessed are the peace makers, for they,
Shall be called the children of God."

ices that in all their great historic streams of thought the East and West have been comforting the same great human questions by ways which however different they may be, are nevertheless, deeply akin to each other.

If there is any thing more inspiring than to see you standing there at the cross roads of life with your great message of faith and peace, it is to know that you are not standing there alone. You are the Spokesman of 350 millions, who are seeking to advance their life not by a calculated alliance in the world conquering physical power on a possibly winning side but by the more courageous way, understanding and peace.

We salute you this day, Sarvepalli Radha Kirshnan philosopher, statesman, and through you we salute your great country."

अर्थात्, "आज विश्व मे कोई भी विचारक एवं दार्शनिक ऐसा नहीं है जो भारतीय और पाश्चात्य धर्मों और विचार-धाराओं के विभिन्नत्व मे आप से अधिक एकत्व का दर्शन करता हो। भारतीय एवं पाश्चात्य मान्यताएं यद्यपि परस्पर विरोधी प्रतीत होती है, तथापि आप उन्हें एक-दूसरे की पूरक एवं परस्पर सम्बद्ध देखते हैं। इतना ही नही इस एकत्व सम्बन्धी ज्ञान को आप प्रसारित भी कर रहे हैं—उसका प्रसार करना आपने अपने जीवन का एक ध्येय बना लिया है। फलतः समस्त विश्व के विद्वान तथा विचारक आज आपको आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देखते हैं।

आप जैसा व्यक्ति भारतवर्ष की लोक सभा की अध्यक्षता करता है तथा उसने वहाँ के विधान बनाने में बहुत ही महत्वपूर्ण योग दिया था—यह एक बहुत बड़ी बात है और इसका प्रभाव समस्त विश्व पर पड़ा है।

यह देख कर बहुत आशा और विश्वास का संचार होता है कि ऐसा व्यक्ति आज शान्ति का दूत बना हुआ है—शान्ति-स्थापन के महत्वपूर्ण कार्य के लिए निकल पड़ा है। केवल राजनीतिक उद्देश्य से ही नहीं बल्कि सच्चे दिल से संसार का दुःख दूर करने के विचार से। आपको विश्व की शान्ति एवं मानव की शालीनता में हार्दिक विश्वास है और आप संसार में फैली हुई भ्रान्तियों को दूर करने के लिए निकले हैं।

आज संसार के प्राय: समस्त देश विनाश की ओर द्रुतगति से अग्रसर हैं। इस गति को देख कर प्रतीत होता है कि समस्त देश प्राय: दो विरोधी भागों में विभक्त हो गए हैं। परन्तु आप ही हमारी, समस्त संसार की एक-मात्र आशा हैं। आप उनके बीच में आकर खड़े हो गए हैं और इस बात की पूरी पूरी कोशिश कर रहे हैं कि वे दोनों के दोनों एक दूसरे को समझने की कोशिश करें और हो सके तो एक दूसरे के साथ विचार-विनिमय भी करलें।

आपने बारम्बार यही कहा कि आज के दिन विश्व में ऐसी कोई विकट समस्या नहीं है, जो पारस्परिक विचार-विनिमय द्वारा सुलझाई न जा सके और जिसके कारण संसार के देश दो सुनिश्चित भागों में विभक्त हो ही जाएँ। आपका तो यही कहना है कि संसार के लोगों को एक करने के लिए, उन्हें एक दूसरे के निकट लाने के लिए प्रत्येक सम्भव प्रयास किया जाना चाहिए।

आज स्थिति यह है कि संसार के लोगों का यह सामान्य विश्वास हो गया है कि पूर्व और पश्चिम दो विभिन्न तत्त्व हैं और वे कभी भी आपस में मिल न सकेंगे—कभी भी एक दूसरे के निकट न आ सकेंगे । परन्तु आप दोनों के ऐक्य के मानों राजदूत हैं। आपने गम्भीर अध्ययन के द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि इतिहास बताता है कि पूर्वीय और पाश्चात्य—सभी देशों में प्रायः वे हीं, एक सी ही—समस्याएँ रहीं हैं, और लोगों ने उन्हें अपने अपने ढँग से सुलझाया है । वे ढँग अथवा तरीके देखने में—व्यावहारिक रूप में भले ही विभिन्न हों, परन्तु सिद्धान्त रूप से, मौलिक रूप में वे एक ही हैं। (जब समस्याएँ वे ही हैं, तो उनको सुलझाने के आधार भी वे ही होने चाहिएँ।) इस प्रकार आपने पूर्व और पश्चिम का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है।

यह एक बहुत ही आशाजनक बात है कि इस मार्ग पर आप अकेले नहीं हैं। आप ३५ करोड़ व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं—आपको अपने समस्त देशवासियों—जिनकी संख्या ३५ करोड़ है, का समर्थन प्राप्त है। विश्व के लिए यह एक बहुत बड़ा आश्वासन है। आपका रास्ता शान्ति और शील (दूसरे की बात समझना) का है । आज पशुबल द्वारा विश्व-विजय का स्वप्न पूरा करने के लिए पारस्परिक संक्रिया करने वाले मार्ग के अनुयायी नहीं हैं।

हे दार्शनिक और राजनीतिज्ञ सर्वपल्ली राधाकृष्णनन् ! हम आज आपके और आपके द्वारा आपके महान् देश के प्रति अपना आदर प्रकट करते हैं और नतमस्तक हैं।

"शान्ति के दूत धन्य हैं, क्योंकि वे ही परमात्मा की सन्तान कहे जाएँगे।"

श्री राधाकृष्णनन् बीसवीं शताब्दी के अग्रगण्य शिक्षा-शास्त्रियों में हैं। इस क्षेत्र में उन्होंने अद्वितीय ख्याति एवं सम्मान की प्राप्ति की है। उन्होंने दर्शन तथा तुलनात्मक धर्म के लिए अनेकों व्याख्यान दिए हैं। केवल भारतवर्ष में ही नहीं: बल्कि इङ्गलैंड, अमेरिका तथा चीन में भी विषय तथा क्षेत्र दोनों ही दृष्टियों से उनके व्याख्यानों की सीमाएँ अत्यन्त व्यापक और विस्तृत हैं। इन विषयों के ऊपर अनेक महत्वपूर्ण लेख लिखने के अतिरिक्त उन्होंने १५० (डेढ़ सौ) से ऊपर पुस्तकें लिखी हैं। भारतीय और पाश्चात्य दर्शन के ऊपर उनका समान अधिकार है और वह आज विश्व के जाने-माने विचारक एवं दार्शनिक हैं। उनके विचार बड़े ही शक्तिशाली एवं प्रभावशाली हैं। संसार के विद्वान् उनका आदर भी करते हैं और उनसे प्रभावित भी हैं।

डा० राधाकृष्णनन् ने अपना अधिकांश जीवन अध्ययन और लेखन के कार्य में व्यतीत किया है। उनकी शक्तियाँ प्रायः इन्हीं दो कार्यों में लगी हैं। उनके जीवन का एक ही उद्देश्य है—पूर्व और पश्चिम का सांस्कृतिक एकीकरण। वह हृदय से चाहते हैं कि पूर्व और पश्चिम के निवासी एक दूसरे को समझने की कोशिश करें। वह जानते हैं कि पूर्व और पश्चिम सापेक्ष हैं। वस्तुतः न कहीं पूर्व

१—इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तकों के नाम निम्नलिखित प्रकार हैं –

Philosophy of Rabindra Nath Tagore, Reign of Religion in contemporary philosophy. Indian Philosophy in 2 volumes, The Hindu View of Life, An Idealist View of life, East and West in Religion, Kalki or the Future Civilisation, The Religion we need, Gautam the Buddha. Eastern Religions and Wesrorn thougth, India and China, Religion and Society, Education. Politics and War, Bhagavadgita, Dhammapada, Articles on Indian Philosophy and others in Encyclopaedia Britannica, East and West etc.

है और न कहीं पश्चिम है। हम कहीं भी एक ऐसी रेखा नहीं खींच सकते हैं, जहाँ से विश्व को पूर्व और पश्चिम इन दो सुनिश्चित विभागों में विभक्त किया जा सकेगा। प्रत्येक देश कतिपय देशों के लिए पश्चिम में है।

उनका विश्वास है कि विभिन्न देशों के निवासी यदि एक दूसरे को समझने का गम्भीर प्रयत्न करें, तो वे सहज ही एक दूसरे के निकट आजाएँगे। समस्त देशों की मान्यताएँ एवं परम्पराएं सिद्धान्तः प्रायः समान हैं, उनके विभेद प्रायः व्यवहारगत ही हैं। उनका सदैव यही प्रयास रहता है कि लोग एक दूसरे को समझने और जानने की कोशिश करें।

पूर्व और पश्चिम को यदि एक (Parallelogram) समानान्तर चतुर्भुज की दो भुजाएँ मान लिया जाता है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे कभी भी एक दूसरे के निकट न आ सकेंगे- क्योंकि समानान्तर रेखाएँ कभी भी आपस में नहीं मिलती हैं। परन्तु यदि उनके बीच एक कर्ण (diagonal), एक कोण से दूसरे कोण तक तिरछी रेखा खींच दी जाती है तो वे रेखाएँ आपस में सम्बद्ध हो जाती हैं। हैं विश्व को आज इसी कोण की आवश्यकता है, जो पूर्व और पश्चिम को एक दूसरे के निकट ला सके। यह कार्य केवल साँस्कृतिक शिक्षा के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। हमारे चरित्रनायक डा० राधाकृष्णनन् विश्व के नागरिकों को यही शिक्षा देने में प्रयत्नशील हैं। इसी कारण शिक्षा के क्षेत्र में वह अप्रतिम एवं अग्रगण्य हैं। आपके द्वारा लिखी हुई पुस्तक "भारत और चीन"[1] अब तक १२ भाषाओं में प्रकाशित हो चुकी है।

---

१ सन् १९४४ में प्रकाशित।

: ४ :

विचार-धारा

दर्शन के सम्बन्ध में—"आज संसार के देशों की प्रवृत्ति विभाजन की ओर है। मुझे कोई ऐसी समस्या ही दिखाई नहीं देती है, जो पारस्परिक विचार-विनिमय के द्वारा सुलझाई न जा सकती हो। विभिन्न देशों के कर्णधारों को एक दूसरे के निकट लाने के लिए पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिये।"[१]

संक्षेप में आपकी यही विचार-धारा है। 'लोक-कल्याण' ही आपके समस्त चिन्तन का मूलाधार है।

उनके मतानुसार "दर्शन-शास्त्र एक रचनात्मक विद्या है। वह केवल जीवन की व्याख्या ही नहीं करता है, अपितु जीवन में सुधार और जीवन का निर्माण भी करता है।"[२] उनका दर्शन सर्वथा व्यावहारिक और लोकोपयोगी है। वह अपने ज्ञान को कमरे में बन्द करके नहीं देखना चाहते हैं। वह उसे सड़क पर बिखेरते हैं और देखते हैं कि उसकी ओर कितने व्यक्ति आकर्षित हो रहे हैं। लोक-रंजन उनकी विचार-धारा का मूल स्रोत है।

---

1. "There is no outstanding problem now dividing the world, which could not be settled by discussions and negotiation. Every effort should be made to get top people together."

2. "Philosophy is a creative task concerned not only with interpreting life, but with changing it".

डा० राधाकृष्णनन् को परमात्मा में अथवा अदृश्य-सत्ता में अखण्ड विश्वास है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "यद्यपि मैंने समस्त कार्य एक सुनिश्चित योजना के अनुसार किए हैं तथापि मुझे ऐसा विश्वास है कि जब कभी गम्भीर निर्णय करने के अवसर उपस्थित हुए हैं, तभी तब किसी अदृश्य सत्ता, किसी दैवी शक्ति ने मेरी सहायता की है। मैं यह नहीं कहता हूँ कि मुझे परमात्मा का विशेष अनुग्रह प्राप्त है, परन्तु मुझे ऐसा विश्वास है कि उस अदृश्य शक्ति के पथ-प्रदर्शन के अभाव में मैं अपनी सफलता भी प्राप्त नहीं कर सकता था। × × ×

मैं यह नहीं कहना चाहता हूँ कि मैं जब कभी असफल हुआ हूँ, तो दुर्भाग्य के कारण! मैं अपनी असफलताओं की अपेक्षा अपनी सफलताओं को कहीं अधिक भाग्य के कारण मानता हूँ। मेरी जो भी सफलताएँ हैं वे मेरे भाग्य तथा उसे अदृश्य शक्ति द्वारा प्राप्त पथ-प्रदर्शन के फलस्वरूप हैं, मेरी जो भी असफलताएँ हैं, उनका कारण मेरी निजी त्रुटियाँ एवं कमजोरियाँ हैं।"[1]

डा० राधाकृष्णनन् यह प्रायः कह देते हैं कि भाग्य ने सदैव मेरी सहायता की है। उसी ने आज तक मुझे सुरक्षित रखा है। ऐसा लगता है कि कोई अदृश्य शक्ति स्वयं अपने हाथों से मेरे भाग्य रूपी यान को बड़ी-बड़ी चट्टानों से बचाकर तथा बड़े-बड़े झंझा-वातों में सुरक्षित रख कर जीवन-रूपी सागर में बराबर संचालित करती रहती है।

वास्तव में, उदारमना होने का मार्ग भी यही है। अपनी सफलताओं को हम अपना सौभाग्य समझें और असफलताओं को अपनी त्रुटियों का परिणाम! पाठक, सहज ही अनुमान लगा सकते

१—पृष्ठ संख्या १७

हैं कि हमारे चरितनायक इतने सरल एवं निरभिमानी क्योंकर बन सके हैं ?

धर्म के सम्बन्ध में—'भारत और चीन' पुस्तक में दोनों देशों के निवासियों की धर्म के प्रति निष्ठा के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए हमारे चरितनायक ने लिखा है कि, "चीन और भारत में धर्म जीवन और अनुभव की वस्तु है, न कि मत और मतांधता की। मनुष्य के अन्तरतम में निहित जो "स्व" है, उसके साथ जिस निगूढ़ सत्ता की एकता है उसी का साक्षात् धर्म का उद्देश्य है। ईश्वर का राज्य—ब्रह्म-लोक – तुम्हारे भीतर है—तत्त्वमसि"

चीन के निवासी बौद्ध धर्मावलम्बी हैं। गौतम बुद्ध और आनन्द के वार्तालाप का उल्लेख करते हुए, डा० साहब ने बुद्ध भगवान् के आनन्द के प्रति उपदेश को इस प्रकार लिखा है—× × × हमें अपनी निगूढ़ आत्मा को ही अपना प्रदीप और अपना शरणाश्रय बनाना है। हमें सत्य-नेत्र—आत्मज्योति—प्राप्त करनी है।"[२]

गौतम बुद्ध भारतवासी थे। इस प्रसिद्ध भारतीय मनीषी की शिक्षा की ओर सकेत करते हुए आपने लिखा है कि, "धार्मिक गुण न पुस्तक ज्ञान है और न सत्कर्म, बल्कि धार्मिक गुण है अन्तर्ज्ञान और अन्तर्ज्योति जो चिन्तन से प्राप्त होती है। × × धर्म-दृष्टि आत्मा की अनुभूति है और शिक्षा उस अनुभूति की तय्यारी। धार्मिक मत तो आत्मानुभूति के साधनरूप में ही अपना महत्त्व रखते हैं और केवल मूढ़ लोग ही उनके सम्बन्ध में कलह मचाते हैं।"[३]

२—वही

३ –१७-१९

सारांश यह है कि हमारे डा० साहब को कर्म-क्षेत्र में प्रवृत्त करने वाला धर्म ही आकर्षित करता है, एक कोने में हाथ पर हाथ रखकर बैठाने वाला धर्म नहीं। इसके साथ ही वह यह भी मानते हैं कि मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर करना, तथा "धर्मं यो बाधते धर्मः न स धर्मः कुधर्म तत्।"

मानवता एवं स्वतंत्रता के सम्बन्ध में—डा० राधाकृष्णनन् भारतीय संस्कृति के उपासक और भक्त हैं। वह हृदय से "सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामय" के विश्वासी हैं। वह विश्व-शान्ति के हामी हैं तथा मनुष्यमात्र की समानता में विश्वास करते हैं। उनकी दृष्टि में रंग, जाति-बिराबरी आदि के भेद निरर्थक हैं। वह मानव-मात्र को सुखी और समृद्ध देखने के इच्छुक हैं। वह उत्साहपूर्वक उस दिन की कल्पना करते हैं जब विश्व का प्रत्येक नागरिक भ्रातृ-भाव से परिपूर्ण होकर सुख-शान्तिपूर्वक जीवनयापन कर सकेगा। यथा-

सन् १९३७ में Cheltenham में होने वाली World Education Conference में भाषण करते हुए उन्होंने कहा था कि, + + Society should be more balanced in order to provide every man and woman freely with the essent ials of life and thus freeing the mind in part from other tasks. A free society is one in which each individual has real freedom to live as he wills short of infringing the equal freedom of others to do the same. Every individual, by virtues of his humanity, irrespective of colour, or race, is an end to himself and can not be regarded only as means for purpose extraneous himself."

सारांश यह है कि उनके मतानुसार स्वतन्त्र नागरिक के मुख्यतया दो लक्षण हैं—वह अपनी इच्छानुसार बे रोक-टोक जीवन व्यतीत कर सके, तथा वह अन्य किसी नागरिक की स्वतन्त्रता में बाधक न बने।

हम यदि अपने आपको स्वतन्त्र नागरिक समझ कर रात के समय माइक्रोफोन बजाते हैं, तो निश्चित है कि हम अपने पड़ौसियों की नींद हराम करते हैं। यह माना कि स्वतन्त्र नागरिक होने के नाते हम मनमाना व्यवहार कर सकते हैं, रात को माइक्रोफोन भी बजा सकते हैं, परन्तु हम यह क्यों भूल जाते हैं कि हमारे पड़ौसी भी तो स्वतन्त्र नागरिक हैं और उन्हें भी अपनी नींद सोने का अधिकार है। हम यदि किसी के कष्ट का हेतु बनते हैं, तो हम पशुवत् व्यवहार करते हैं। स्वतन्त्र नागरिक कहलाने के लिए हमें पहिले मानव तो बनना ही पड़ेगा। डा० राधाकृष्णनन् इसी अनुद्वेगकर स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृंखलता अथवा उद्दण्डता नहीं है; उसका तात्पर्य उन परिस्थितियों से है जिनमें रह कर हम स्वतन्त्रतापूर्वक अपना विकास कर सकें।

यद्यपि मनुष्यों के बाह्य-जीवन में उसके भौतिक जीवन में, बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है, यातायात के साधन बदल गये हैं, अनेक नए-नए वैज्ञानिक आविष्कार हो गये हैं, तथापि मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्तियों में, उसके मूल स्वभाव में बहुत ही कम परिवर्तन हुआ है।[1]

1—"Though the world has changed considerably in the out ward material aspect, means of communication, scientific inventions, etc., there has not been any change in its inner spiritual side. (Preface to "Indian Philosophy").

गांधी जी की अहिंसा के सम्बन्ध में कलकत्ता में दिये जाने वाले एक व्याख्यान में डा० राधाकृष्णनन् ने महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित अहिंसा का विवेचन किया था। गांधी जी की अहिंसा के संबंध में उनके विचार संक्षेप में निम्नलिखित प्रकार हैं :—

"यदि हमें सर्वकालीन अथवा अखण्ड सत्य का अनुभव करना है, तो हमारे साधन मूलतः श्रेष्ठ होने चाहिएँ। हमें यह भली प्रकार जान लेना चाहिये कि सर्वव्यापी सत्यानुभव के लिये यदि हम उतावले होकर पशुबल अथवा कुत्सित एवं अवैध साधनों का प्रयोग करते हैं, तो हमको निराश एवं हताश ही होना पड़ेगा। × × ×

अहिंसा कायरता अथवा दुर्बलता की निशानी नहीं है। अपनी कायरता अथवा दुर्बलता को छिपाने के लिए हम 'अहिंसा' का बहाना नहीं करते हैं। अहिंसा वास्तविक शक्ति का प्रतीक है। जो लोग वास्तव में बहादुर हैं, जो कष्टों को हँसते-हँसते झेल सकते हैं तथा जिनमें बलिदान की भावना भरी हुई है, वही व्यक्ति अहिंसक बन सकते हैं; वे ही संयमित रह कर अस्त्र के प्रयोग से दूर रह सकते हैं। भय के कारण अहिंसक होना भयावह है। यदि कोई आदमी यह सोचकर कि हिंसा के परिणाम बुरे होते हैं, अहिंसा का मार्ग ग्रहण करता है, तो उसको समझ लेना चाहिए कि वह अपने आपको बहुत बड़े खतरे में डाल रहा है। जो लोग यह सोचते हैं कि गाँधी जी जीवन को स्वतन्त्रता की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ एवं मूल्यवान् समझते थे, वे भूल करते हैं। गाँधी जी यह निश्चित रूप से मानते हैं कि शारीरिक कष्ट और मृत्यु, ये इस स्थूल जगत की बुराइयाँ हैं। यदि हम इनके बदले कोई अच्छा

काम कर सकते हैं, तो शारीरिक कष्ट और मृत्यु का सदैव स्वागत ही करना चाहिये। मनुष्यों को मारने से कोई लाभ नहीं हो सकता है ; हमें उनके असाधु आचारों को नष्ट करना चाहिये। यदि हम अपने वर्तमान शासकों को नष्ट कर डालते हैं और उनका शासन बना रहता है, तो हमको समझ लेना चाहिये कि हमें कोई किसी प्रकार का लाभ न होगा। युद्ध में जाकर लड़ना कोई बहुत बड़ा पाप नहीं है। वास्तव में बुरी हैं हमारे समाज की वे परिस्थितियाँ जिनके फलस्वरूप युद्ध होते हैं, सबल निर्बल को खा जाने के लिये तय्यार हो जाता है। हिटलर तो वस्तुतः हमारे समाज की हिंसक-प्रवृत्ति के प्रतीक मात्र हैं। अतः अपने समाज के किसी अङ्ग-विशेष, अथवा कतिपय व्यक्तियों को नष्ट कर देना वास्तविक उपचार नहीं है। इसके लिए हमको समाज की मनोवृत्ति में ही सुधार करना होगा। हम यदि चाहते हैं कि मानव-समाज सुरक्षित रहे, तो हमें समाज की व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करने होंगे। हमें चाहिए कि असत्य और बेईमानी का विरोध करें, उनके ख़िलाफ़ मोर्चा तैयार करें। अपमान-पूर्ण जीवन की अपेक्षा मृत्यु अधिक बुरी नहीं है। बल्कि यों कहिए कि अपमान-पूर्ण जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा मर जाना कहीं अधिक श्रेयस्कर है—"अपमानात् वरं मृत्युः"।[1]

---

1 "If the eternal good is to be realised in time we must use only such means as are intrinsically good. All short cuts to achieve it quickly, or by force through actions intrinsically evil are doomed to frustration × × ×

Non—Voilence is not an excuse for cowardice or weakness, It is the expression of strength. Only those who have the qualities valour, suffering and the spirit of sacrifice, can restrain themselves and not resort to the use of arms. It is dangerous to be non--violent out of fear for the consequences of violence.

"समाज के विकास-क्रम को सामान्यतया तीन अवस्था में विभक्त किया जा सकता है ! (१) जब कि सब लोग जंगली थे, पशु-बल का साम्राज्य था, जिसकी लाठी उसकी भैंस थी, चारों ओर हिंसा और स्वार्थपरता का बोलबाला था, (२) जब कि कायदे-कानून बन गए; न्यायालयों में निष्पक्ष न्याय किया जाने लगा; पुलिस हुई, जेलखाने बने इत्यादि तथा (३) जब अहिंसा की चर्चा करें और त्यागी, स्वार्थ-भावना-रहित हो जायँ; जब हम यह समझने लगें कि प्रेम और कानून दोनों एक ही वस्तु हैं। सभ्य मानव समाज का लक्ष्य इसी अन्तिम अवस्था को प्राप्त करना है। यह तभी सम्भव है जब अधिकाधिक नर-नारी केवल पशु-बल-अस्त्रादि का भरोसा ही न छोड़ दें बल्कि राज्य द्वारा प्राप्त हिताहित की ओर से उदाहीन हो जाएँ, सचमुच त्यागी बन कर महत्त्वा-कांक्षा-रहित हो जाएँ; वे मृत्यु का स्वागत करें ताकि विश्व में शान्ति स्थापित हो सके। गाँधी जी ऐसे ही एक व्यक्ति हैं। जब गाँधी जी के तथा कथित यथार्थवादियों विरोधियों के नामों को लोग भूल जाएँगे, तब दुनियाँ गाँधी जी की याद करेगी। यद्यपि यह प्रतीत होता है कि उनके द्वारा प्रतिपादित आदर्श की प्राप्ति असम्भव है, तथापि एक न एक दिन उसकी प्राप्ति अवश्य होगी।

× × ×

(भावी सन्तान उनकी पुण्य स्मृति में नतमस्तक होकर अवश्य यह सोचेगी कि ऐसे असभ्य और अन्धकारपूर्ण युग में उन जैसा एक महापुरुष उत्पन्न हुआ था, जिसने प्रकाश एवं सत्य-मार्ग का दर्शन किया था) एक दिन आएगा जब वह अन्य लोगों के जीवन के रक्षार्थ अपना जीवन दे देंगे।"[1] अस्तु।

---

1 " × × × Such a one is Gandhi. He will be remembered when the names of the realists, who advise

संसार के नागरिकों के सम्बन्ध में

डा० राधाकृष्णनन् के मतानुसार संसार के विभिन्न देशों के निवासियों में कोई मौलिक भेद नहीं है। उनके गध्य प्रचलित भेद-विभेद कृत्रिम हैं; संसार के निवासियों का श्रेणी-विभाजन सर्वथा अस्वाभाविक है। यथा—

'There are no fundamental differences among the people of the world. They have all the deep human feelings, the craving for Justice above all class interests, horror of blooshed and violence.

It may not be given thus to see that the farthe evails' but it is given to us to strive that it should."

अर्थात् "संसार के विभिन्न व्यक्तिओं में कोई मौलिक भेद नहीं है। उनमें मानवोचित भावनाएँ समान रूप से व्याप्त हैं, वे सब न्याय-प्रिय हैं, सब के सब वर्गगत एवं सम्प्रदायगत हितों की सुरक्षा चाहते हैं, सब खून-खराबी से घबढ़ाते हैं तथा हिंसा को बुरा समझते है। × ×

हमारे प्राचीन धर्मों को देश की सीमाओं का अतिक्रमरा करके विश्व-व्यापी अथवा अन्तर्राष्ट्रीय बनना पड़ेगा। अन्यथा उनका अस्तित्व ही नष्ट हो जाएगा। मेरी यह कथा सम्भवतः कुछ महानुभावों को अजीब लगे—यह भी हो सकता है कि वे उसको बुरा समझें; परन्तु इसका अपना निजी महत्व और सौन्दर्य है।

× × × ×

---

the world to ignore him, are utterly forgotten. Though his ideal may now seem impossible of attainment, it will be realised.

1 Page 41, 42 Glimpses from Fragments of a Confession. डा० साहब ने यह लेख उस समय लिखा था, जब वह रूस में भारतीय राजदूत थे।

मानव की एकता उनकी उत्पत्ति सम्बन्धी विवेचनाओं द्वारा सम्भव नहीं है- वह हमारे भावी कार्यक्रम एवं लक्ष्य की अपेक्षा रखती है। हमें वह भली प्रकार विचार कर लेना चाहिए कि हम क्या बनना चाहते हैं तथा हमारी प्रवृति किस ओर है।

× × × ×

इस विश्व-व्यापी धर्म की प्रतिष्ठा भले ही हमारे वश में न हो, परन्तु यह तो हमारे वश की बात ही कि हम आग्रहपूर्वक यह कहें कि विश्व के कल्याण के लिए ऐसे धर्म एवं विश्वास की प्रतिष्ठा होनी ही चाहिए।

पारमार्थिक सत्ता के सम्बन्ध में

"The ultimate reality sleeps in stones, breathes in plants, feels in animals and awakens to self-consciousness in man. The absolute is not abstract unit, but a concrete whole binding together the differences which are subordinate to it. The whole has existence through parts, and the parts are intelligible only through the whole."[1]

अर्थात् "पारमार्थिक सत्ता पाषाणों में विश्राम करती है, वृक्षों में निवास करती है एवं उनके द्वारा श्वास लेती है, पशु के द्वारा अपनी संवेदनशीलता प्रकट करती है और मानव के आत्म-ज्ञान के रूप में जाग्रत होती है। परमात्मा कोई अव्यावहारिक इकाई नहीं है, बल्कि निम्न कोटि के समस्त पदार्थों की अनेकता में एकता स्थापित करने वाली प्रत्यक्ष शक्ति है। अनेक के आधार पर एक

1. "The Reign of Deligion in Contemporary Philosophy' (R. R. 443)

की स्थिति है और एक के कारण अनेक की सत्ता प्रतिभासित होती है।"

तथा—

"The Maya theory simply says that we are under illusion if we think that the world of individuals, the pluralistic universe of intellect, is absolute reality."

× × × ×

"Freedom is the supreme of spiritual life. Each man has written in the blood of his own heart his pathway to perfection."

अर्थात् "मायावाद वाला सिद्धान्त केवल एक बात बताता है। यदि हम इस अनेक रूपाकात्मक संसार को ही सत्य मानते हैं, तो हमें समझ लेना चाहिये कि हम धोखे में हैं।

× × × ×

"आध्यात्मिक जीवन का सर्वोपरि नियम है—मुक्ति। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय के रक्त में मुक्ति का मार्ग अङ्कित रहता है। सारांश यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णत्व का अधिकार है। मुक्ति का मार्ग कहीं सम्पन्न नहीं है, वह हमारे ही भीतर है।[1] उसको जानने के लिए किसी के पास जाने की आवश्यकता नहीं है, केवल हृदय का द्वार खोलने की आवश्यकता है—वहाँ उसका निरूपण जन्म के ही साथ हो जाता है। मुक्ति का अधिकार और उसको प्राप्त करने का ज्ञान, मानव के सहज, जन्मजात गुण हैं। यह बात दूसरी है कि हम अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर इधर-उधर भटकते रहें।

---

१. कस्तूरी कुण्डल बसै मृग ढूँढै बन माँहि।
ऐसे घट घट राम हैं, दुनियाँ देखे नाँहि। —कबीर

पिछले पचास वर्षों में समाज की सम्यक् व्यवस्था के लिए कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया। उनके निम्नलिखित चार सिद्धान्त प्रमुख हैं :—

(१) कार्ल मार्क्स का सिद्धान्त (Marxian Man)—इस सिद्धान्त के अनुसार मानव अपनी आर्थिक परिस्थितियों का दास है। अर्थ उसके जीवन की सबसे बड़ी समस्या है। इसी के सुलझाने में उसकी सफलता है। वैसे उसका कोई व्यक्तित्व नहीं है।

(२) डार्विन का सिद्धान्त (Darwinian Man)—मनुष्य बन्दर का विकसित रूप है, वह पशुओं की सन्तान है, तथा पाशविक वृत्तियों द्वारा उसका निर्माण हुआ है। सारांश यह है कि इस सिद्धान्त के अन्तर्गत मानव के आध्यात्मिक स्वरूप का स्पष्ट निषेध है।

(३) फ्रायड का सिद्धान्त (Freudian Man)—इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य अपने प्रत्येक कार्य योंही बिना सोचे-समझे करता रहता है। उसका अवचेतन मन उसके समस्त क्रिया-कलापों का संचालन करता रहता है और वह अपनी मौलिक वृत्तियों (Instinct) का दास है। यह सिद्धान्त मानव के बुद्धि-विवेक को एक प्रकार से कोई स्थान नहीं देता है।

(४) मशीन वाला सिद्धान्त (Instrumental Man)—इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य अपनी परिस्थितियों का दास है। वह जिन परिस्थितियों में रख दिया जाता है, उन्हीं के अनुसार व्यवहार करने लगता है। मशीनों के समकक्ष उसकी कार्य-क्षमता अत्यन्त न्यून है। वह जितनी ही बड़ी एवं क्षमतावान् मशीन बना सके, वह उतना ही अधिक क्षमताशील समझा जाएगा। सारांश यह

कि यह सिद्धान्त मनुष्य के भीतर स्वतन्त्र मस्तिष्क एवं विचार शक्ति को स्वीकार नहीं करता है।

इन सिद्धान्तों के फलस्वरूप मानव विचित्र उलझन में पड़ गया। उसको यही ज्ञान नहीं रहा कि वह आखिरकार जीवित क्यों है? वह जो कुछ उत्पन्न कर रहा है, उसका क्या होगा? विश्व की इस महती योजना में उसका क्या महत्व है…आदि? संक्षेप में उसकी गति उस हिरन के समान हो गई, जो एक जाल में फँस जाने पर ज्यों-ज्यों बाहर निकलने की कोशिश करता है, त्यों-त्यों उसमें अधिकाधिक उलझता जाता है।[१] सारांश यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान की अधिकाधिक उन्नति तो हुई, परन्तु उसके द्वारा मानव-मन त्रस्त और आतङ्कित हो गया। वह पलायन करने का संकल्प करने लगा। निष्कर्ष रूप में उसकी विचार-धारा निम्न-लिखित प्रकार की होगई।

(१) हम नहीं जानते कि किस प्रकार जीवित रहें अथवा जीवित रह कर क्या करें।

(२) हमारा सब समय रोटी की समस्या ही हल करने में व्यतीत हो जाता है। (फलस्वरूप स्नायु-सम्बन्धी अनेक रोग फैल गए और फैल रहे हैं)।

(३) हमारी दृष्टि में मानव एक बहुत ही तुच्छ एवं महत्वहीन जीव है, क्योंकि मशीनों को देखते हुए उसकी कार्य-क्षमता बहुत ही न्यून है।

(४) मनुष्य परिस्थितियों का दास एवं पशुओं का वंशज है। अतएव उसके स्वतन्त्र विकास की कोई सम्भावना नहीं है।

---

१. को छुट्यौ यहि जाल परि कत कुरंग अकुलात।
ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहति, त्यों त्यों उरझति जात। —बिहारी

सारांश यह कि मानव के हृदय में जीवन के प्रति कोई आस्था शेष नहीं रह गई, वह जीवित केवल इसलिए है क्योंकि उसको जीवित रहना है; वह भय और हीनत्व भावना (Inferiority Complex) से भर गया। उसकी गति उस अन्धे के समान हो गई जिसको यही नहीं मालूम है कि यदि उसकी आँखों की रोशनी वापिस आ जाए, तो वह क्या करे। संक्षेप में वैज्ञानिक ने चित्र का अध्ययन तो किया—खूब विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक, दोनों प्रकार का अध्ययन किया, परन्तु वह वहीं रुक गया। वह चित्र के चितेरे की ओर न जा सका ; वह संसार में तो रम गया, परन्तु संसार के बनाने वाले की बात न कर सका। विज्ञान के युग की सबसे बड़ी यही विडम्बना रही। ऐसे युग में परमात्मा की चर्चा करना, तथा मानव के परमात्मा अथवा पारमार्थिक स्वरूप की प्रतिष्ठा करना संसार की बहुत बड़ी आवश्यकता थी। साथ ही विपुल साहस का काम था। डा० राधाकृष्णन् ने मानव के परमात्म-स्वरूप की ओर लोक का ध्यान आकर्षित किया और विज्ञान की विडम्बना का निराकरण करके जीवन के प्रति आस्था एवं आकर्षण उत्पन्न किया। "मानव को पूर्णत्व की प्राप्ति का पूर्ण अधिकार है। यह अधिकार तथा उसकी प्राप्ति का मार्ग उसके रक्त में है।" यह कहना कोई मामूली बात नहीं है। इसके द्वारा हमारे सम्मुख हमारे जीवन का महत्व बढ़ता है, उसका लक्ष्य हमारी आँखों के सामने आता है, तथा हमारी हीनत्व भावना एक ओर खड़ी हो जाती है। 'हम मानव परमात्मा के अंश हैं। परमात्मा के आसन को प्राप्त करना हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिये।' यह एक बहुत बड़ा आदर्श है। इस आदर्श का सन्देश घर-घर पहुँचाने वाला व्यक्ति सचमुच ही महान् विचारक एवं प्रचारक होना चाहिये।

हमारे चरित-नायक मानव को परमात्मा का अंश मानते हैं। "मनुष्यता परमात्मा प्राप्ति का एक महत्त्वपूर्ण सोपान है," निष्कर्ष रूप में मानव के सम्बन्ध में इनका यही दृष्टिकोण है।

नारी के सम्बन्ध में—डा० राधाकृष्णनन् के विचार से नारी नर की चिरसहचरी, उसके धर्म की रक्षक, उसकी गृह-लक्ष्मी तथा उसे देवत्व तक पहुँचाने वाली साधिका है ! डा० राधाकृष्णनन् ने स्पष्ट ही लिखा है कि "यदि किसी को रुचिकर कार्य एवं वांछित पत्नि प्राप्त हो जाए, तो समझ लीजिए कि उसका जीवन सार्थक है।"[1]

उनके विचार से नारियाँ इस सभ्यता के चकाचौंध से अपेक्षाकृत दूर रहती हैं—अतः वे अपेक्षाकृत सत्य के अधिक निकट रहती हैं। उनका मधुर सम्पर्क पुरुष को जीवन के संघर्षों में एक प्रकार का रस प्रदान करता रहता है।

वह नारी को भारतीय आदर्श की कुल-ललना के रूप में देखते हैं। उनका कहना है कि भारतवर्ष की गृह-लक्ष्मियाँ ही हमारी प्राचीन परम्पराओं एवं मान्यताओं को सुरक्षित रखे हुए हैं। हमारी नारियों के सम्मुख अभी तक प्राचीन आदर्श हैं। वे पूर्णतया पतिव्रता और पतिपरायणा हैं। उनका तो स्पष्ट मत रहता है कि "यदि पति विश्वासघात करता है, तो मुझे तो विश्वासपात्र बना रहना चाहिये, वह यदि इधर-उधर चला गया है, तो मुझे उसके लौटने की प्रतीक्षा करनी चाहिये।"[2] पत्नी के इस अनन्य प्रेम में वह जीवों

---

1 "I have often been reminded in later years of Hegel's saying that a man has made up his account with this life when he has work that suits him and a wife whom he loves." (Page 4, My Search for Truth).

2. "If he is faithless, I must be faithful. If he is shaken I must abide. If he sees another, I must await his return." (Page 5, My Search for Truth).

के प्रति परमात्मा के अनन्त प्रेम का दर्शन करते हैं। यथा—

"If there is a faith in this blind devotion, then there is a faith in the Eternal who loves us with the same love, awaiting us patient and unwearied, when we return, with false pleasure to him"

इसी के आधार पर उनका स्पष्ट मत है कि भारतीय दाम्पत्य जीवन कोमलता एवं प्रगाढ़ प्रेम से परिपूर्ण जीवन है। मानव की समस्त दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करने वाला अमोघ पदार्थ प्रेम, मेरे विचार से, परमात्मा की सबसे बड़ी देन है। वह तो इस देश के दाम्पत्य जीवन के प्रेमादर्श से प्रभावित होकर बाल-विवाह की प्रथा तक का परोक्ष रूप से समर्थन करते हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "पश्चिम के देशों के देखते हुए हमारी उम्र एवं श्रेणी के लोगों की शादी अपेक्षाकृत बहुत कम अवस्था में होगई थी, परन्तु ये शादियाँ असफल नहीं रहीं।" [1]

भारतवर्ष के परिवारों एवं स्त्रियों की दशा देखते हुए उनका यह कहना अवश्य है कि "हमारे समाज के रीति-रिवाजों में कुछ सुधार करने की आवश्यकता है। वस्तुस्थिति यह है कि पति की सद्भावना ही हमारी नारियों का एकमात्र आधार है। उसी के ऊपर उनका क्षेम—कुशल निर्भर है। वर्तमान वातावरण में यह पर्याप्त नहीं है। इसमें सुधार करने के लिए सरकार को कुछ न कुछ करना चाहिए।" [2]

---

1 "Though many of my class and generation were married earlier than it is usual in western countries, these early marriages were not unsuccessful" (Page 5, My search for Truth).

२ देखें पृष्ठ संख्या ५, वही।

डा० राधाकृष्णनन् ने भारतीय नारियों के सम्बन्ध में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिया था। यह व्याख्यान चतुर्थ अध्याय के रूप में Religion and Society, नाम की पुस्तक में सङ्कलित है। उसके महत्त्वपूर्ण अंशों का हिन्दी-अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। यथास्थान कोष्टक में उक्त पुस्तक की पृष्ठ संख्या दि दी गई है। पाठक आवश्यकतानुसार मौलिक अंश पढ़ सकते हैं। यथा—

"पुरुष और स्त्री के सम्बन्धों पर हमको सच्चे हृदय से विचार करना चाहिए। × × पुरुषों ने ही प्रायः स्त्रियों के विषय में विभिन्न धारणायें निर्धारित की हैं। उन्होंने नारी-स्वभाव से सम्बन्ध तथा नारी की अपेक्षा नर की श्रेष्ठता बताने के लिए अनेक ऊल-जलूल किस्से गढ़ रक्खे हैं।

उन्होंने स्त्रियों के गुणों और दोषों के निरूपण करने में प्रायः अपनी समस्त बुद्धि को खर्च कर डाला है।[1] अस्तु।

"प्राचीन भारतवर्ष में नारियाँ" शीर्षक के अन्तर्गत उन्होंने लिखा है कि, हम नर और नारी को क्रमशः पुरुष और प्रकृति कहते हैं। इसका तात्पर्य ही यह है कि वे एक—दूसरे के पूरक हैं। मानव-जाति का दो योनियों में विभाजन मानव के श्रम-विभाजन की ओर संकेत करता है। कुछ कार्य ऐसे हैं जिन्हें मर्द नहीं कर सकता है, परन्तु न तो इसका यही अर्थ है कि नारियाँ अपना नारीत्व छोड़ दें और न इसका यही परिणाम होना चाहिए कि आदमी और औरतों के स्वाभाविक पारस्परिक सम्बन्धों में ही कोई अन्तर पड़े। नर स्रष्टा है, नारी प्रेमिका! कोमलता, माधुर्य, शान्ति, प्रेम, समर्पण एवं त्याग नारी के विशेष गुण एवं आभूषण हैं। निर्दयता, हिंसा, क्रोध, घृणा आदि

1 Religion and society पृष्ठ संख्या १३६

नारी स्वभाव के प्रतिकूल हैं। नारी के ऊपर नर का आधिपत्य जन्मजात एवं स्वाभाविक नहीं है।[२] × × × ×

संसार के बड़े से बड़े कार्यों की प्रेरणा नारी-प्रेम के द्वारा ही प्राप्त हुई है।[३] × × × हिन्दुओं का विवाह मूलत: एक सहयोग भावना का आदर्श है। पति-पत्नी पक्के और सच्चे साथी हैं, वे दोनों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए सामूहिक प्रयत्न करते हैं। + × ×

माताएँ होने के कारण स्त्रियाँ अधिक समझदार होती हैं। वे ही वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन कर सकती हैं। तभी हमारे जीवन का प्रस्तुत रूप परिवर्तित हो सकेगा। और तभी नए मानव का जन्म होगा। यथा—"woman as mothers are more directly sensible of the iniquity and injustice of the present order, and can bring about a deep and far reaching change of spirit, and work it into the new style of life. Then will the new man be born.

सभ्यता और समाज के सम्बन्ध में

समाज की प्रस्तुत व्यवस्था में कुछ न कुछ मौलिक दोष हैं। आजकल हमारे समाज की जो व्यवस्था है, उसमें कुछ मौलिक दोष हैं। डा० राधाकृष्णनन् ने स्पष्ट लिखा है कि आजकल प्रजातंत्रा-

---

२ फिर विस्तार सहित बताया है कि विभिन्न युगों में किस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं और उनके कारण स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों में अन्तर उत्पन्न होते गये। पति का पत्नी को अपनी सम्पत्ति अथवा दासी समझना समाज का अभिशाप ही कहा जा सकता है।

3 Geniuses like Kalidas, conquerors like Napolion, scientistr like Michael Farady, and many other world makers, and fos sakers, cleor witness to the imphrh hart plaveit by love in their lives (P. 146). be born.

त्मक शासन-व्यवस्था केवल आंशिक रूप में ही है। प्रजातंत्रात्मक प्रणाली का पहिला लक्षण है "मानव का सम्मान"। इस प्रणाली का पहिला सिद्धान्त यह है कि "कोई व्यक्ति इतना योग्य नहीं है कि उसके हाथों में पूरी सत्ता सौंप दी जाए तथा किसी राष्ट्र को अन्य किसी राष्ट्र के ऊपर शासन करने का अधिकार नहीं है। परंतु हम आजकल जो कुछ देखते हैं—वह ठीक इसका उलटा है। शक्तिशाली व्यक्ति एवं राष्ट्र अपनी मनमानी करते हैं, वे जो चाहते हैं, सो करते हैं। × × × दलित, अशिक्षित एवं निर्धन व्यक्तियों को आज अपने अस्तित्व और अधिकारों का ज्ञान हो गया है और वे अपने शोषकों से अपने अधिकार छीनने के लिए बेचैन हो उठे हैं।" इसके बाद वह राष्ट्र-सघ League of Nations तथा संयुक्त राष्ट्र-संघ United Nations Organisations की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि हम केवल बाहरी सहानुभूति दिखाते हैं। हम अन्तर्राष्ट्रीय एवं विश्व-शान्ति की चर्चा भर करते हैं। हमारा ध्यान राष्ट्र-हित में सीमित है तथा हम युद्ध का वातावरण बनाये हुए हैं। × × इतना ही नहीं उपनिवेश हमारी प्रतिष्ठा के मापदण्ड बने हुए हैं। जिन देशों के पास उपनिवेश हैं, वे अपने उपनिवेशों को छोड़ना नहीं चाहते हैं, कुछ भी हो, वे उनको अपने पास ही रखना चाहते हैं। और उपनिवेश के निवासी अपने शासकों से किसी प्रकार छुटकारा पाने को प्रयत्नशील हैं। बस, यही संघर्ष विश्व-युद्धों का कारण है। सारांश यह है हमारे चरित-नायक के मतानुसार साम्राज्यवादी मनोवृत्ति ही 'युद्ध' का मूल कारण है।[2]

---

1. Page 198 Religion and Society.

2. 'The determination of some nations to hold on what they have and defend it at all costs, and [illegible] equal determinations of

अब समय आ गया है जब हम विवेक से काम करने का अभ्यास करें—न्याय और अन्याय के भेद को ठीक-ठीक समझें और उसी के आधार पर अपने समाज की व्यवस्था करें। न्याय के आधार पर की गई सामाजिक व्यवस्था ही स्थायी शान्ति का हेतु बन सकती है। सभ्यता के विषय में भी डा० राधाकृष्णनन् का अपना विशेष दृष्टिकोण है। वह जब भी किसी बात अथवा विषय पर विचार करते हैं तो यह सदैव ध्यान रखते हैं कि इस स्थूल शरीर के अतिरिक्त भी हम कुछ हैं और हमारा वह "और कुछ" इसकी अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। सभ्यता के विषय में विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि सभ्यता का सम्बन्ध आत्मा से है, न शरीर से है और न मस्तिष्क से। शक्ति और योग्यता की प्राप्ति पर्याप्त नहीं है, नैतिकता एवं आध्यात्मिकता अनिवार्य हैं। मानव को समझ लेना चाहिये कि उसके जीवन का क्या उद्देश्य है और साथ ही इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसको प्रयत्नशील होना चाहिये। उसको यह भूल जाना चाहिए कि वह अपने आप उन्नति करता चला जायगा। उसको समझ लेना चाहिए कि उसके आदर्शों एवं संयम के अनुसार ही उसका विकास होता है। मानव अपने आदर्शों के अनुरूप ही विश्व का निर्माण करता है। हम आज तक जो इतनी उन्नति कर चुके हैं, यह उन्हीं महापुरुषों के प्रयत्नों का फल है, जिन्होंने अपने सम्मुख उच्च आदर्श रखे थे और फिर उनके अनुरूप समाज का पुनर्निर्माण करने के लिए वे प्रयत्नशील हुए थे। हमारी आजकल की सभ्यता का सबसे बड़ा दोष यह है कि हम अपनी नाक के आगे नही देखते हैं, हम केवल आज की बात सोचते

---

thers to wrest it from them, are ten causes of wars. (p. 24, 25 My Search for Truth).

हैं, कल का हमको ध्यान ही नहीं है। हम वे ही काम करते हैं, जिनके कारण हमें अभी इसी समय लाभ हो जाए, हम वे काम नहीं करते, जो स्थायी रहें और भविष्य में भी हमारे लिए हितकारी सिद्ध हों। इस सांसारिक जीवन की उन्नति में ही मानव की समस्त शक्तियाँ व्यय नहीं हो जानी चाहिएँ। यदि मानव ने अपने जीवन का यही लक्ष्य बना लिया, तो समझ लीजिए उसने अपने आपको बहुत ही छोटा समझ लिया है। मानव-जीवन का उद्देश्य इससे कहीं अधिक महान् है। सांसारिक उन्नति से सन्तोष न करके मानव को स्थायी मान्यताओं की स्थापना करनी चाहिए। हमारा कर्त्तव्य है कि हम पारस्परिक सहयोग एवं भ्रातृ-भावना के आधार पर समाज का निर्माण करें। "वास्तविकता, सच्चाई और स्वार्थ-त्याग सभ्यता के विकास के मूलाधार होने चाहिएँ।"[1] जब तक हमारे मन में ईमानदारी, कर्त्तव्यनिष्ठा एवं आत्म-त्याग के भाव जाग्रत नहीं होते हैं, तब तक हम कैसे कह सकते हैं कि हम अधिक सभ्य हो गये हैं।" नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों को लेकर चलने वाला समाज ही विज्ञान द्वारा उपलब्ध ज्ञान एवं साधनों के सम्यक् उपयोग द्वारा सभ्यता का सच्चा एवं वास्तविक विकास कर सकता है।"[2]

धर्म के सम्बन्ध में भी इनके अपने विशेष विचार हैं। दर्शन का भी जीवन में यह विशेष उपयोग मानते हैं। हमारे चरित-नायक के लिए दर्शन और धर्म केवल बौद्धिक विलास की वस्तुएँ

---

1. "Growth of Civilisation is marked by an increase of genuienness, sincerity and unselfishness." (p. 26).

2. Only a humanity that strives atter ethical and spiritual ideals can use the great triumphs of scientific knowledge for the true ends of civilisation. (Page 26, My Search for Truth).

नहीं हैं ; इनके विचार से वे व्यवहारोपयोगी वस्तुएं हैं। अतः इन्होंने 'धर्म' और 'दर्शन' पर संसार से ऊपर उठ कर अथवा जीवन से बाहर जाकर, विचार नहीं किया है। इन्होंने धर्म और दर्शन को जीवन में और संसार में रख कर देखा है। देखा ही नहीं है, बल्कि हमको और आपको, सबको हाथ में लेकर दिखाया भी है। उनका स्पष्ट मत है कि "विवेकपूर्ण जीवन-व्यवहार को ही धर्म कहा जाना चाहिये।" हमारे स्वतन्त्र, सब बन्धनों से रहित अनुभव का ही नाम धर्म है आदि।"[3]

सार-ग्रहणी प्रवृत्ति—डा० राधाकृष्णनन् की विचार-धारा की सबसे बड़ी यह विशेषता है कि वह 'सार सार को गहि रहै थोथा देइ उड़ाइ' की सजीव मूर्ति हैं। कबीर के 'साधु' के समान उनका सूप-स्वभाव है। कैसा भी प्रसंग हो, कैसा भी अवसर हो, वह अपने मतलब की बात खोज लेते हैं। खोज ही नहीं लेते पकड़ भी लेते हैं।, और ठीक ही है, कीचड़ में पड़े हुए स्वर्ण का त्याग सोने का कौन पारखी कर देगा ?

अपनी चीन यात्रा के संस्मरणों में उन्होंने लिखा है कि "सांस्कृतिक सहयोग की सिद्धि में उन्होंने जो प्रयत्न किये थे वही आज हमारे लिए प्रेरणा दे रहे हैं। इस लिए मैंने यह यात्रा की, इस उद्देश्य से कि चीन के विश्व-विद्यालयों की यह मेरी प्रदक्षिणा हमारे दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक संबन्धों को और अधिक दृढ़ बनाने में कुछ सहायता दे।" डा० साहब का देश-प्रेम एक काठ-पुतले का देश-प्रेम नहीं है। वह देश की सीमाओं का उल्लंघन करके देश-प्रेम को पुष्ट करने वाले तत्त्वों का संग्रह करने वाला विश्वव्यापी देश-प्रेम है।

---

3. See page 11, My Search for Truth.

शिक्षा और शिक्षकों के सम्बन्ध में उनके विचार हमारी आँखें खोल देते हैं। वह देखते हैं कि हमारे देश में शिक्षा एवं शिक्षा के केन्द्र प्राय: उपेक्षित हैं। उनका कहना है कि विद्यालय ही देश के महापुरुषों का निर्माण करने वाले कारखाने हैं तथा अध्यापक उन्हें बनाने वाले कारीगर हैं। चीन ने शिक्षा-संस्थाओं की ओर ध्यान दिया तथा अध्यापकों का सम्यक् सम्मान किया और वह उन्नति की ओर एक के बाद दूसरी सीढ़ी चढ़ता चला गया। 'चीन के विश्व-विद्यालय' प्रसंग के अंतर्गत उन्होंने लिखा है कि, "विचार विश्व को गति देते हैं। कार्य विचार का अनुगामी है। चीन की शिक्षा संस्थायें ही वे केन्द्र हैं जहाँ नवीन चीन का निर्माण हो रहा है। × ×× इस पुनरुत्थान को गति दे रहे हैं विश्वविद्यालयों के नेतागण। ये विश्वविद्यालय चीन की राष्ट्रीयता के गढ़ हैं।"[२]

इसी प्रसंग का विवेचन करते हुए डा० साहब ने उदाहरण देकर यह बतया है कि वहाँ देश के कर्णधार योग्य शिक्षकों को राष्ट्र की अमूल्य निधि समझते है। यथा "चीन में विद्वान ही अधिकारी वर्ग मे होते हैं। बहुत से राजदूत और कूटनीतिज्ञ विश्व-विद्यालयों के शिक्षकों में से हैं। बर्लिन-स्थित भूतपूर्व चीनी राजदूत इस समय "केन्द्रीय राजनीतिक प्रतिष्ठान (Central Political Institute) के प्रधान हैं।"[४]

विश्व-विद्यालयों द्वारा प्रसारित राष्ट्रीय शक्ति एवं जीवन के द्वारा ही सच्ची राष्ट्रीयता का निर्माण सम्भव है। 'विश्वविद्यालयों का

---

१. साधु ऐसा चाहिए जैसा सूप स्वभाइ।
सार सार को गहि रहै थोथा देइ उड़ाइ।

२. पृष्ठ संख्या २-३, 'भारत और चीन', अनुवादक गंगारत्न पाण्डेय।

३. ,, ,, ३ वही

४. ,, ,, ४ वही

वातावरण उत्साह से भरा हुआ है। विद्यार्थी समाजों और परिषदों में रात में बहुत देर तक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं, राजनैतिक कल्पनादर्शों और अनन्त विभेदों के सम्बन्ध में विवाद चला करते हैं।'[1] ये विश्व विद्यालय ही राष्ट्रों का निर्माण करने वाली नैसर्गिक शक्ति के स्रोत हैं। क्योंकि "× × राष्ट्रीयता वह अमूल्य निधि है जो एक राज्य को अपने विकास और जाति को अपने अस्तित्व की अविच्छिन्नता के लिए प्रेरित और समर्थ करती है।"[2]

विद्या और ज्ञान के प्रति चीनी लोगों में अपार निष्ठा है। उनकी सांस्कृतिक सहयोग भावना बहुत प्राचीन काल से अक्षुण्ण बनी हुई है। भारतवर्ष और चीन की राष्ट्रीयता सदैव एक दूसरे की पूरक रही है। यह इस बात का प्रमाण है कि सच्ची राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की विरोधी नहीं, बल्कि पोषक होती है। ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर डा० राधाकृष्णनन् ने लिखा है कि—"ईसाई संवत् के पहले से ही हमारे देशों के बीच विद्या और संस्कृति संबंधी विषयों का आदान-प्रदान आरम्भ हो गया था! इन तमाम सदियों में हम एक-दूसरे से मित्रों और सहयोगियों के रूप में मिलते रहे हैं। ज्ञान की खोज और सद्गुणों के विकास-पथ के सहयोगी पथिकों की भाँति, न कि प्रतिस्पर्द्धी और शोषकों की भाँति। हमारी सभ्यतायें एक लम्बे इतिहास और अविच्छिन्न प्रवाह वाली सभ्यतायें हैं और उनकी एक सामान्य सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि है। इनमें मानव-जीवन और बन्धुत्व के समान आदर्श हैं। राज-नीतिक स्तर पर हमारे पारस्परिक सम्बन्ध सुन्दर पड़ौसियों के

---

१. पृष्ठ सं० ७, वही

२. पृष्ठ सं० ८, वही

३. पृष्ठ सं० ३९-४०

सद्व्यवहार के अप्रतिम उदाहरण हैं। विदेशियों के प्रति रहने वाले अविश्वास और भय से हम त्रस्त नहीं रहे हैं।"

हमारे चरितनायक अङ्गी और अङ्ग रूप में स्थित अन्तर्राष्ट्रीयता और राष्ट्रीयता के प्रचार-प्रसार और पोषण में संलग्न हैं। विश्वशान्ति की ओर यह एक बहुत बड़ा प्रयास है। डा० राधाकृष्णनन् जैसे संवेदनशील एवं उदारमना महानुभावों की ओर देख कर ही हमें यह आशा होने लगती है कि हमारा भविष्य कल्याणकारी है। वह दिन दूर नहीं, जब राष्ट्रों की पारस्परिक प्रतिद्वन्दता और प्रतिस्पर्द्धा पारस्परिक सहयोग का रूप धारण कर लेंगी।

: ५ :

व्यक्तित्व

"श्री राधाकृष्णनन् वह व्यक्ति हैं जिसकी दार्शनिक प्लेटो ने कभी कल्पना की थी। अपने सुकर्मों के फलस्वरूप वह चिरकालीन सम्मान के अधिकारी बन गए हैं। इस देश के निवासियों के हृदय में ही नहीं, बल्कि समस्त विश्व के जिज्ञासु—जो ज्ञान प्राप्ति के इच्छुक रहते हैं तथा जिनके हृदय में सद्भावना एवं उदारता का निवास है—के हृदयों में उनके प्रति आज ही नहीं अपितु भविष्य में भी—सदैव सम्मान रहेगा।" सारांश यह है कि उनकी यश-चन्द्रिका संसार के शोक-संतप्त नागरिकों को चिरकाल तक शीतलता प्रदान करती रहेगी।"[1]

दुनियाँ में कोई भी आदमी यों ही बड़ा नहीं बन जाता है। दुनियाँ को चाम नहीं काम प्यारा होता है। डाक्टर राधाकृष्णनन् में कुछ ऐसे गुण है जो बिरले ही महापुरुषों में पाए जाते हैं। इन्हीं गुणों के फलस्वरूप वह इतने बड़े बन सके हैं और हमारी श्रद्धा के पात्र बन[2] गए हैं। उनका स्वभाव अत्यन्त सरल है और उनके रहन-सहन का तरीका बिल्कुल सादा है। उनकी आवश्यकताएँ

1 Page 14, Introduction, Dr. Sarvapalli Radha Krishnan, by Jagnnath Singh

२ यूनान के दार्शनिक विद्वान Plato ने अपनी पुस्तक Republic में लिखा है कि विश्व का कल्याण तभी सम्भव है, विश्व मे सुख-शान्ति और समृद्धि तभी सम्भव है जब राज्य सिंहासन के ऊपर दार्शनिक शासक प्रतिष्ठित हों।

बहुत थोड़ी हैं। यद्यपि वह इतने उच्च पद पर प्रतिष्ठित हैं तथापि प्रत्येक व्यक्ति उनसे बिल्कुल आसानी से मिल सकता है। उनसे मिलने के लिए किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं हैं। जो चाहे सो उनसे बे रोक-टोक मिल सकता है। उनके हृदय में पर-दुःखानुभूति की पयस्विनी सदैव बहती रहती है, उनका हृदय सर्वथा उदार है, मानवता की वह सजीव प्रतिमा है। भारतीय संस्कृति में जो कुछ श्रेष्ठ और रक्षणीय है, उसके वह ज्वलन्त उदाहरण हैं। देश को उनके ऊपर गर्व है।

यह एक माना हुआ विचार है कि महान् व्यक्तियों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। यथा—

(१) जो महान् माता-पिता की सन्तान होते हैं। इस श्रेणी में वे महानुभाव आते हैं, जिनके जीवन में प्रारम्भ से ही समस्त सुख-सुविधा होती हैं। थोड़ा सा प्रयत्न करके ही वे आगे आ जाते हैं अथवा ऊँचे उठ जाते हैं। इन्हें हम बड़े बाप का बड़ा बेटा कह सकते हैं। हमारे माननीय प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू इस प्रकार के सजीव उदाहरण है।

(२) जो बड़प्पन अथवा महानता प्राप्त करते हैं। इस श्रेणी के अन्तर्गत वे महानुभाव आते हैं जो साधारण माता-पिता की सन्तान होते हैं, जिनके जीवन में कोई विशेष सुख-सुविधा उपलब्ध नहीं होती हैं, परन्तु वे अपने गुणों, अपने अध्यवसाय तथा कठिन संघर्ष के कारण बड़े बन जाते हैं। विश्व वन्द्य पूज्य महात्मा गाँधी इस श्रेणी के महापुरुषों के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण थे।

---

1 Those who are born great.

2 Those who achieve greatness.

3 Upon whom greatness is thrust.

(३) जिन्हें महान बना दिया जाता है अथवा जिनके ऊपर महानता थोप दी जाती है। इस श्रेणी में तथा श्रेणी संख्या १ में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इस श्रेणी में प्रायः वे ही महानुभाव आते हैं, जो उच्च अथवा वैभवशाली कुल में जन्म लेते हैं, प्रत्येक व्यक्ति उनकी छोटी से छोटी अच्छी बात को अधिक से अधिक अच्छा बताता है, उन्हें सम्मानित करने के लिए उत्सुक रहता है, उनके सद्गुणों को कई गुना बड़ा करके देखता है। हमारे प्रधान-मंत्री पं० नेहरू इस श्रेणी के भी सफल उदाहरण हैं।

पाठक सहमत होंगे कि द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत आने वाले महापुरुष ही वस्तुतः महान् हैं, क्योंकि उनका वास्तविक आभूषण उनके सद्गुण हैं; उनके विकास एवं उनके बड़प्पन की आधारशिला उनके सद्गुण ही हैं।

इस श्रेणी के किसी भी महापुरुष की महानता का मूल्यांकन दो प्रकार से किया जाना चाहिए। यथा—

(क) उसने जीवन से कितना संघर्ष किया है, वह कितनी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने में सफल हुआ है।

(ख) वह जन-सामान्य के ऊपर क्या प्रभाव डालता है—अथवा वह लोगों को किस प्रकार प्रभावित करता है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णनन् इन दोनों कसौटियों के अनुसार सर्वथा खरे उतरते हैं और शत-प्रतिशत महान् विभूति प्रमाणित होते हैं। वह अनेक कठिनाइयों और बाधाओं को पार करके ही इतने ऊँचे उठ सके हैं, उन्होंने एक एक ईंट रख कर अपनी महानता के महल का निर्माण किया है। इनके ऊपर जितनी बड़ी मोहर लगी हुई है, उनके भीतर का माल भी उतना ही ठोस और असली है।

जहाँ तक प्रभाव का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में कोई मत-भेद है नहीं। सबकी यही राय है कि वह अपनी वाणी और लेखनी दोनों के द्वारा लोगों के हृदय को प्रभावित करते हैं। उनकी शब्दावली अत्यन्त मार्मिक होती है। वह प्रत्येक बात को सच्चे, हितकार और मनोहारी ढंग से कहते तथा लिखते हैं। माता शारदे का यह वरदान उन्हें कठिन साधन के पश्चात् ही प्राप्त हुआ होगा, ऐसा समझ लेना चाहिए।[1]

डा० राधाकृष्णनन् अपने मस्तिष्क के कारण ही बड़े हैं और अपने हृदय की विशालता के कारण ही बड़े हैं। वह जितने ज्ञानवान हैं, उतने ही सहृदय हैं। वह हमारे सिर आँखों पर भी हैं और गले के हार भी हैं।

आज विश्व में चारों ओर अविश्वास एवं असन्तोष के बादल छाए हुए हैं। इस अन्धकार के मध्य डा० राधाकृष्णनन् हमारे लिए आशा-किरण के रूप में विद्यमान हैं। वह अँधकार में प्रकाश प्रदान करते हैं तथा निराशाओं के मध्य आशा का संचार करते हैं। आज विश्व के समस्त प्राणी एक दूसरे के प्रति अविश्वासी बन गए हैं। डा० साहब निर्बाध गति से विश्वास का संदेश सुना रहे हैं। उनका दृढ़ मत है कि जिस दिन मानव की मानवता निःशेष हो

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं चयत्।
स्वाध्यायम्यसनं चैव वाड्मय तप उच्यते।
(श्री मद्भागवत गीता, अध्याय १७, श्लोक १५)

अर्थात् प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ (मन और इन्द्रियों द्वारा जैसा अनुभव किया हो ठीक वैसा ही कहने का नाम यथार्थ है) भाषण है और जो वेद-शास्त्रों के पढ़ने का एवं परमेश्वर के नाम जपने का अभ्यास है, वह निः सन्देह वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

जायगी, उस दिन मानव-जाति भी नष्ट हो जायगी। अभी हम और आप जीवित हैं, इसका अर्थ है कि अभी मानवता निःशेष नहीं हो पाई है, अतः हमें मानव और मानवता के प्रति आस्था और विश्वास रखने ही चाहिएँ। हर्ष का विषय है, अथवा यों कहिए कि मानव-समाज का यह सौभाग्य है कि हमारे चरित-नायक का उक्त संदेश विश्व को बहुत ही तेजी के साथ प्रभावित कर रहा है। इस नवोदित विश्वास एवं मानवता के प्रति पुनर्जीवित आस्था को देख कर हमें विश्वास कर लेना चाहिए कि मानव-समाज के अच्छे दिन आने ही वाले हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि उन जैसे महापुरुष के मुखारविन्द से हमको भारतीय संस्कृति का स्वरूप सुनने को मिल रहा है। डा० राधाकृष्णनन् ने अपने व्यक्तित्व के विषय में स्वयं बहुत थोड़े शब्द लिखे हैं। हमारे विचार से उन शब्दों में उनके व्यक्तित्व की सर्वांगीण झाँकी मिल जाती है। यथा—

"जब से मैंने होश सम्भाला, तब से मुझ को एक अदृश्य सत्ता के प्रति विश्वास रहा। वह शक्ति विश्व का संचालन करने वाली है तथा हमारी ज्ञानेन्द्रियों के परे है। उसको केवल बुद्धि के द्वारा जाना जा सकता है। कठिन समय में भी, मुसीबत के दिनों में भी, उस शक्ति के प्रति मेरा विश्वास अडिग ही बना रहा है। बड़ी से बड़ी मुसीबतें मुझको विचलित नहीं कर सकी हैं, उस परम सत्ता के प्रति मेरा विश्वास अविचल है। मुझे एकान्त में रहना पसन्द है। मेरा दार्शनिक स्वभाव सम्भवतः मेरी इस रुचि के मूल में है। मैं सदैव कुछ न कुछ सोचता ही रहता हूँ। यही कारण है कि मैं एकान्त-प्रिय हूँ। संसारी जीवन के साथ-साथ मेरा एक भीतरी जीवन भी चलता रहता है। पुस्तकें आरम्भ से ही मेरी संगिनी रहीं हैं। उनके द्वारा प्राप्त ज्ञान तथा आदर्शों ने सदैव मेरी सहायता

की है। सामाजिक समारोहों में मैं बेचैन सा एवं खोया-खोयासा रहता हूँ। संग-साथ में मुझको असुविधा का अनुभव होता है। यदि एक-दो व्यक्तियों का साथ हो, जिन्हें मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ, तब तो बात दूसरी है, वर्ना मुझे किसी का साथ पसन्द नहीं है। वैसे मैं एक बात बता दूँ—मैं निभ सबके साथ जाता हूँ। चाहे बड़ा हो चाहे छोटा, बुड्ढा हो या जवान, मैं आवश्यकता पड़ने पर सबके साथ रह लेता हूँ, कोशिश करके निर्वाह कर लेता हूँ। यद्यपि मैं बहुत ही संकोचशील प्रकृति का एकान्त-प्रिय व्यक्ति हूँ, तथापि लोगों की नजर में मैं एक दोस्ती के योग्य आदमी तथा समाजप्रिय आदमी समझा जाता हूँ। लोग मुझको बहुत ही रूखा तथा दृढ़ व्यक्ति समझते हैं। वस्तु-स्थिति यह है कि मैं इसका ठीक उल्टा हूँ। मैं बहुत ही भावुक प्रकार का व्यक्ति हूँ। यह बात दूसरी है कि मैं अपनी भावनाओं को सफलतापूर्वक छिपा लेता हूँ—उनको अन्य लोगों पर यथाशक्ति प्रकट नहीं होने देता हूँ।, (पृष्ठ सं. १, ६ *My Search for truth*)

सारांश यह है कि श्री राधाकृष्णनन् को परमात्मा एवं परोक्ष सत्ता के प्रति अखण्ड एवं अविचल विश्वास है। वह एक अध्ययनशील एवं मननशील व्यक्ति हैं; उन्हें एकान्त एवं शान्त जीवन प्रिय है; सामाजिक समारोह उन्हें विशेष रुचिकर नहीं है, यारबासी से वह कोसों दूर हैं, परन्तु सहिष्णु इतने हैं कि सबको निभा लेते हैं तथा अवसर के अनुकूल अपने आपको ढाल लेने की उनमें विचित्र क्षमता है। इतना ही नहीं उन्हें अपने मनोभावों के ऊपर पूर्ण नियन्त्रण है। वह बहुत ही संकोचशील व्यक्ति हैं। उनका संकोचशील एवं विनम्र स्वभाव ही वस्तुतः उनका वास्तविक बड़प्पन है। वह इतने मधुर एव कोमल स्वभाव के व्यक्ति हैं, इतने बड़े विद्वान हैं, इतने सहन-

शील हैं, फिर भी कहते यही हैं कि यह उनका सौभाग्य है जो लोग उनका आदर करते हैं। उन्होंने तो यहाँ तक लिखा है कि "मैं तो बहुत ही जल्दी घबड़ा जाने वाला आदमी हूँ, मेरे ऊपर छोटी छोटी बातों और घटनाओं का बहुत अधिक एवं बहुत ही जल्दी असर होता है, मैं एक प्रकार से तुनक-मिजाज हूँ, परन्तु यह मेरा सौभाग्य ही है कि मैंने अपने जीवन को एक गोरखधन्धा नहीं बना डाला है और मेरा जीवन ठीक-ठीक ढंग पर व्यतीत हो रहा है तथा प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादक ने अपने जीवन-सम्बन्धी एक निबन्ध लिखने के लिए मुझसे कहा है। इतने अनिश्चित स्वभाव, तुनक-मिजाज तथा साधारण योग्यता रखते हुए भी मेरी सफलताएँ मेरी नहीं हैं, असफलताओं के मूल में प्रायः मेरी त्रुटियाँ एवं दुर्बलताएँ ही हैं।"
(Page 2, 3, My Search for Truth)
और क्यों न हो ? किसी ने ठीक ही कहा है कि—

"नमन्ति फलनो वृक्षाः नमन्ति गुणनो जना" अर्थात् फलवाले वृक्ष और गुणवाले मनुष्य नीचे की ओर झुक जाते हैं।

विद्या वही है जो व्यक्ति को विनयशील बना दे। ऐसे उपयुक्त पात्र में निवास करके वस्तुतः विद्या भी सार्थक हुई है। नल का पानी जितना ही नीचे की ओर जाता है, वह फिर उतना ही ऊँचा उठने में समर्थ होता है।[1] यही गति मनुष्य की होती है। हमारे चरित-नायक इस प्रवृत्ति के सफल एवं सजीव उदाहरण हैं। "प्रत्यक्षम् किम् प्रमाणम्" ? हम भी जानते हैं कि उनके व्यक्तित्व में विद्या और विनय का मणि-—कांचन सुगंध संयोग हो गया है।

---

१ नर की अरु नल-नीर की गति एकै कर जोइ।
जेतो नीचो ह्वै चलै तेतो ऊँचो होइ।
—बिहारी

"मैं एक सौभाग्यशाली व्यक्ति हूँ और सौभाग्य ने ही अभी तक मेरा योग--क्षेत्र वहन किया है।"[1]

श्री मद्भगवत् गीता के अनुसार, "भगवान उसी के योग-क्षेत्र को वहन करते हैं जो अनन्य भाव से उनका चिन्तन करता है।"[2]

डाक्टर राधाकृष्णनन् वास्तव में बड़े ही भाग्यशाली हैं, जो उनके मन में भगवान के प्रति इतनी आस्था है कि उनके योग-क्षेत्र का भार उनके सौभाग्य ने सम्हाल रखा है। उनसे अधिक भाग्यवान हैं हम लोग, जिनके देश में ऐसा महाभाग उत्पन्न हुआ है।

निश्चय ही भगवान् उन्हें प्रिय हैं और भगवान् को वह प्रिय हैं। और "जापर कृपा राम की होई, तापर कृपा करै सब कोई" के अनुसार उनका व्यक्तित्व जितना ही महान् हो वही थोड़ा है।

---

1 Page 2, My Search for Truth.

2 अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्। (९/२२)

: ६ :

धार्मिक विचार

धर्म के नाम पर इस देश में अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। धर्म की मनमानी व्याख्या कर दी जाती है। कोई धर्म को तिलक छापे आदि बाह्य आडम्बरों में ही सीमित कर देता है और कोई चौका-चूल्हा में ही धर्म का सर्वस्व समझता है। इसके अतिरिक्त इस देश में एक ऐसा भी वर्ग है जो धर्म का नाम सुनते ही चौंक पड़ता है। इस वर्ग में प्रायः वे लोग हैं जो पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति से आक्रान्त हैं। वे सम्भवतः भूल जाते हैं कि अँग्रेजी का शब्द Religion और संस्कृत का धर्म समानार्थी नहीं हैं। धर्म बहुत ही व्यापक है, Religion बहुत ही संकुचित है। यह कहना अनुचित न होगा कि Religion वस्तुतः धर्म का ही एक अंग विशेष है। जो हमें धारण करे, वह धर्म है अर्थात् जिस गुण-विशेष के कारण हमारा अस्तित्व रहता है एवं जिन गुणों के निर्वाह के द्वारा हम अपने जीवन को सार्थक करते हैं, वही धर्म है।

धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए संसार के विचारकों ने अनेक प्रकार से विचार किया है। अपनी अपनी परिस्थितियों, देश की मान्यताएं एवं समाज की संस्कृति के अनुरूप धर्म की समय समय पर व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती रही हैं। गोस्वामी तुलसी दास जी ने तो सीधे-साधे ढँग पर धर्म का व्यावहारिक स्वरूप बहुत ही स्पष्ट करके बता दिया कि—

परहित सरिस धर्म नहीं भाई ।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ।
(रामचरितमानस)

'धर्म' शब्द के साथ पाप-पुण्य भी जुड़ गया है । धर्म का नाम लेते ही 'अधर्म' हमारे सम्मुख आ जाता है और उनके साथ ही पुण्य और पाप के भाव संलग्न हैं । भारतीय वाङ्मय के अन्तर्गत राम और कृष्ण धर्म के स्वरूप हैं तथा रावण और कंस अधर्म के ! राम का रावण को एवं कृष्ण का कंस को मारना धर्म के द्वारा अधर्म का नाश है अथवा अधर्म के ऊपर धर्म की प्रतिष्ठा है । इतना ही नहीं, राम और कृष्ण का दर्शन मानों पापाचार रूपी अंधकार के भीतर धर्म रूपी प्रकाश एवं आशा-किरण का दर्शन है । राम और कृष्ण की पूजा मानों भारतीय हृदय का धर्म के प्रति आत्म-निवेदन है ।

महाभारत की कथा लोक-विश्रुत है । उस युद्ध के प्रारम्भ होते समय गाण्डीवधारी अर्जुन को मोह हुआ था । भगवान श्री कृष्ण ने अपने उपदेशामृत द्वारा उस मोह का निवारण किया था । वे उपदेश श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में आज भी सुरक्षित हैं । ग्रन्थकार ने मानव-जीवन में आने वाली प्रत्येक कठिनाई, सुविधा अथवा संकट-संदेह के अवसरों को अर्जुन के मुँह से विविध प्रश्नों के रूप में उपस्थित किया है और श्रीकृष्ण के द्वारा उन प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत किए हैं । उन उत्तरों के माध्यम से मानों मानव-जीवन की समस्त समस्याओं का निराकरण कर दिया गया है— कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निरूपण कर दिया गया है । अन्त में अर्जुन की विवेक बुद्धि जाग्रत होती है और वह कहता है कि 'करिष्ये

वचनं तव, अर्थात् मै आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। ग्रन्थकार ने परोक्षरूप से यह कहा है कि गीताकार के उपदेश का रसास्वादन करने के पश्चात् मनुष्य का विवेक जाग्रत हो जाना चाहिए। इस विवेक जागृति को ही धर्म का स्वरूप स्पष्ट होना कहा है।

यह बात सबको मालूम है कि पाण्डवों की विजय हुई थी और कौरवों की पराजय। आखिर क्यों? कौरवों की शक्ति तो पाण्डवों की शक्ति की अपेक्षा कई गुनी थी। उस विजय का केवल एक ही कारण था। पाण्डव धर्म के पथ पर थे और कौरव अधर्म के। फिर वही प्रश्न उपस्थित होता है कि 'धर्म' है क्या?

गीताकार ने ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए मानो इस प्रश्न का उत्तर दे दिया है। यथा—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीविजयो भूति ध्रुवा नीतिर्मतिमम॥

(१८।७८)

अर्थात् जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान हैं और जहाँ गाण्डीवधारी अर्जुन हैं, वहीं पर श्री 'विजय,' विभूति और अचल नीति है, ऐसा मेरा मत है। पाठक, समझ लें कि गीताकार ने इस श्लोक के पहिले कई स्थलों पर योग और योगेश्वर की व्याख्या की है। उसके आधार पर—योगेश्वर कृष्ण से तात्पर्य है 'समत्व बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान।'

---

१ नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गत सन्देहः करिष्ये वचनं तव।

(१८।७३)

अर्थात् हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है। इसलिए मैं संशयरहित हुआ स्थित हूँ और आपकी आज्ञा पालन करूँगा।

अर्जुन है तदनुसारिणी क्रिया। सारांश यह है कि 'धर्म' का अर्थ 'कर्त्तव्य—बुद्धि' है। यह वह बुद्धि है जो, निर्लिप्त भाव से अपने कर्त्तव्य का निर्धारण करती है। अतः धर्म का स्वरूप पवित्रतम विचार-धारा द्वारा ही जाना जा सकता है। उसको सामान्य लोकाचारों में अथवा सामान्य विज्ञान की भाषा में बाँधने की चेष्टा करना बुद्धि का उपहास करना है।

नैयायिकों ने 'धर्म' की बहुत ही प्रामाणिक व्याख्या की है। 'जिसके द्वारा अभ्युदय और निश्रेयस् की सिद्धि हो, उसको धर्म कहते हैं।' अर्थात् अभ्युदय का अर्थ होता है सांसारिक वैभव, और निश्रेयस् का अर्थ है पारलौकिक कल्याण। इस प्रकार लोक और परलोक को सुधारने वाले आचरण का ही नाम धर्म है। निष्कर्ष रूप में 'धर्म' उन कर्त्तव्यों का समुच्चय हुआ जिनके अनुरूप आचरण करके हम इस जीवन में सुख-शान्ति प्राप्त करते हैं और इस जीवन को त्यागने के पश्चात् कल्याण से साक्षात्कार का विधान करते हैं। हमारे चरित्रनायक डा० राधाकृष्णनन् धर्म के इसी स्वरूप को ग्राह्य मानते हैं। वे धर्म को न तो कोरा ढकोसला ही मानते हैं और न धर्म की चर्चा को व्यर्थ की बकवास ही समझते हैं। यथा—

"विवेक-पूर्ण जीवन पद्धति के रूप में धर्म की प्रतिष्ठा होनी चाहिए।"[1] × × × × 'युक्ति-युक्त विचार धारा, उपयोगी कार्य तथा उपयुक्त सामाजिक संस्थाओं की स्थापना के रूप में धर्म का स्वरूप प्रकट होना चाहिए। धर्म का सम्बन्ध अभ्यन्तर (आध्यात्मिक) जीवन से है।"[2]

---

1 "Religon must establish itself as a rational way of living."

2 Religion must express itself in reasonable thought fruitful

डा० राधाकृष्णानन् ने लिखा है "अप्रै. सन् १९०९ में मद्रास प्रैसीडेन्सी कॉलिज के दर्शन-विभाग में मेरी नियुक्ति हुई थी। मैं बराबर दर्शन-शास्त्र का अध्यापक रहा हूँ। मैंने भारतीय दर्शन एवं धर्म के अध्ययन में काफ़ी समय और श्रम लगाया है। मैं तो इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि धर्म एक सर्वोपरि अनुभव है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् किसी प्रकार का संदेह एवं किसी प्रकार की भ्रान्ति न रहनी चाहिए। यद्यपि नैतिकता धर्म का व्यावहारिक अथवा बाह्य रूप है, तथापि नैतिकता भी धर्म के स्वरूप को सन्देहास्पद नहीं बना सकती है। धर्म का सम्बन्ध वस्तुतः हमारे आन्तरिक जीवन से है।"

उपर्युक्त विचार-धारा के निष्कर्ष रूप, हम डा० साहब के मत में धर्म का निम्नाङ्कित रूप प्राप्त करते हैं—

(१) धर्म एक आध्यात्मिक वस्तु है।

(२) धर्म अनुभव की वस्तु है, बाहर से लादने की नहीं, उसकी प्राप्ति के पश्चात् अर्जुन की भाँति "नष्टो मोहःस्मृतिर्लब्धा" वाली दशा प्राप्त हो जाती है।

(३) नैतिकता एवं सदाचार धर्म के समकक्ष नहीं है। धर्म साध्य है और नैतिकता आदि केवल साधन है।[१]

(४) धर्म का उद्देश्य आध्यात्मिकता (जिसका फल निश्चया-

---

action and right social institutions. × × × × Religion is essentially a concern of the inner life.' (Page II, My Search for Truth)

१"परहित सरिस धर्म नहीं भाई" कथन की संगति इसके साथ ठीक बैठ जाती है।

त्मकता है) की प्राप्ति है, जो व्यक्ति को इस असार संसार एवं निराशामय जीवन के ऊपर उठा देती है।

उन्होंने आगे चलकर अपने मत को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "It is not a private revelation or what is imposed by public authority, but what springs naturally from light of reason and the insight of experience"[1] अर्थात् धर्म न तो एकान्तिक साधना के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली व्यक्तिगत सम्पत्ति है और न सरकार के द्वारा लादा जाने वाला कोई कानून। यह वह वस्तु है जो युक्तिसंगत ज्ञान एवं अनुभवशीलता के द्वारा उपलब्ध होती है।

अपनी पुस्तक 'East and West in Religion' में हमारे चरितनायक ने लिखा है कि "न्याय करना, दया करना और अपने साथ के प्राणियों को सुखी बनाना, धर्म का मुख्य लक्षण है। × × × × साधु वही है जो अपने साथियों की सेवा करता है और पारिस्परिक प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील होता है। किसी व्यक्ति की आवश्यकता उसकी उदारता की अपेक्षा रखती है। हमको चाहिए कि हम मानव की समानता में विश्वास करें। इस विश्वास को आत्मा की एकता में ही बद्ध न रखें, बल्कि सांसारिक स्वरूप-हाड़ मांस के शरीर-की एकता के रूप में व्यवहार में लाएँ। हम जिन नर-नारियों के सम्पर्क में आएँ, उनके प्रति हमारे मन में प्रेम तथा सहिष्णुता के भाव हों। मानव-प्रेम का अर्थ यही है और इसी प्रकार उसे समझा-समझाया जाना चाहिए।" सारांश यह है कि विश्व-बन्धुत्व की चर्चा केवल बौद्धिक विलास की वस्तु न रहकर, हमारे हृदय की वस्तु बन कर हमारे आचरण

1 Page, 15, My Search for Truth.

को तदनुसार ढाल देगी, तभी हमको धर्म के वास्तविक स्वरूप का दर्शन हो सकेगा।"

डा० राधाकृष्णनन् ने अपने उपर्युक्त कथन द्वारा वस्तुतःसंसार में फैल रही विश्व-बन्धुत्व की चर्चा के ऊपर एक चोट की है। हम देखते हैं कि आजकल विश्व-बन्धुत्व Universal Brotherhood की चर्चा चारों ओर सुनाई देती है। उसके प्रचार-प्रसार के लिए अनेक संस्थाएँ भी स्थापित की जारही हैं। परन्तु इसके साथ हम यह भी देखते हैं कि प्रत्येक देश स्वार्थ-भावना में लिप्त है, अन्य देशों का शोषण करना चाहता है तथा युद्ध की तैय्यारियों में लिप्त है। युद्ध के साधनों द्वारा हम शान्ति-स्थापन की बात करते हैं, विश्वबन्धुत्व की चर्चा की आज सबसे बड़ी यही विडम्बना है। परमात्मा की दुहाई देकर हम परमात्मा के बालकों का संहार करना चाहते हैं, धर्म भावना का यह सबसे भयंकर उपहास है। यदि हम सचमुच धर्म को जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग मानते हैं, तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम धर्माचरण करने की बात सोचें।

जैसा अन्यत्र निवेदन कर चुके हैं, यद्यपि धर्म हमारे बाह्यजीवन भी से सम्बद्ध है, तथापि प्रमुखतया वह हमारे आभ्यन्तर जीवन की वस्तु है। वह शरीर की उपेक्षा तो नहीं करता है, परन्तु आत्मा के स्वरूप का निरूपण, आत्मा की एकता के आधार पर प्राणीमात्र के एकत्व की प्रतिष्ठा, वह अपना लक्ष्य मानता है। जो व्यक्ति सबको आत्मवत् नहीं समझता है, प्राणीमात्र में आत्म का दर्शन नहीं करता है अपने समान अन्य से प्रेम नहीं करता है, वह कैसे कह सकता है कि उसको धर्म का स्वरूप विदित है ? 'परहित' का ही नाम धर्म है।

१ देखें पृष्ठ संख्या ३३, ३४ My Search for Truth.

प्रेम उसका व्यावहारिक स्वरूप है। सद्भावना सहानुभूति उसके साधन हैं।

भगवान राम ने रावण से युद्ध करते समय विभीषण को बहुत ही महत्वपूर्ण उपदेश दिया था। उसके अन्तर्गत भगवान ने भक्त को बताया था कि धर्म का स्वरूप क्या है, धर्माचरण किसे कहते हैं, धर्म का स्वरूप किस प्रकार की साधना का फल है तथा धर्माचरण का क्या परिणाम अथवा फल होता है।[1] भगवान के उक्त उपदेशामृत का सारांश मानों इस एक वाक्य में निहित है कि

सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीवन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें।

धर्म का लक्षण ही यह है कि शत्रु-भाव का लोप ही होजाए। जब मन में धर्म-भाव है, वहाँ जब सद्भावना एवं प्रेम के जनक बन्धुत्व-भाव ने घर बसा लिया, तब फिर विरोधी भाव को स्थान कैसे प्राप्त हो सकेगा ?

साधु, सन्त भक्त आदि धर्म के इसी स्वरूप की उपलब्धि की कामना करते आए हैं। भक्तों ने एकमात्र यही वरदान माँगा है कि जनम जनम रति राम पद, यह बरदान न आन,[2] क्योंकि राम

१—सुनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहि जय होइ सो स्यंदन आना।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।
बल विवेक दम परिहित घोरे। क्षमा कृपा समता रजु जोरे।
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा।
अमय अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना।
कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा।
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें।

२ धर्म अर्थ कामार्थ रुचि पद न चहौं निर्वान।
जन्म जन्म रति राम पद यह बरदान न आन।

को केवल प्रेम प्यारा है ।[१] यही कारण है कि भक्तजन राम में मिलजाने की अपेक्षा राम के बनाए हुए प्राणियों से प्रेम करने को अधिक श्रेष्ठ मानते आए हैं ।[२]

कहते हैं भक्त-शिरोमणि तुलसीदास को भगवान राम ने दर्शन दिए थे, उनके हाथ से लेकर चन्दन लगाया था ? आप इन बातों को कल्पित मानते हों, तो मानिए । परन्तु यह तो निर्विवाद है ही कि उनको मन की परम शान्ति प्राप्त थी, उनको जीवन का परम फल हस्तामलकवत् था; उनको धर्म के वास्तविक स्वरूप का दर्शन हो चुका था ! विचारणीय प्रश्न है—क्यों कर ? वह विश्व-प्रेम और धर्म अथवा धर्मरूप भगवान को अन्योन्याश्रित मानते थे । भगवान के दर्शन के लिए वह धर्म को अपने जीवन के व्यवहारों में ढालना अनिवार्य मानते थे । यथा —

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ।
श्री रघुनाथ—कृपालु—कृपा तें संत—सुभाव गहौंगो ।

× × × ×

पर–हित–निरत निरंतर. मन क्रम वचन नेम निबहौंगो ।
परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।
विगत मान, सम, सीतल मन, पर–गुन नहिं दोष कहौंगो ।।

× × × ×

तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अबिचल हरि–भक्त लहौंगो ।।
(विनय पत्रिका, पद संख्या १७२)

---

१ रामहिं केवल प्रेम प्यारा, जान लेहु जो जाननहारा ।
२ सगुनो पासक मोक्ष न लें हीं । तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं ।।
—रामचरितमानस

ठीक ही है—प्रेम बँध्यौ संसार, प्रेम परमारथ पए।

—सूरदास

अपनी पुस्तक Religion And Society में डा० साहब ने लिखा है कि "व्यक्ति के वास्तविक मूल्य, उसके आत्म-सम्मान तथा परोक्ष सत्ता के साथ उसकी सम्बन्ध-भावना के ऊपर धर्म-भावना आधारित की जा सकती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व, व्यक्तिगत सम्मान एवं उसके परमात्मा के दर्शन के फलस्वरूप ही धर्म-भावना का उदय होता है। हैनरी वर्गसन Henri Bergson ने ठीक लिखा है कि मानव-समाज में समान रूप से व्याप्त परमात्मा की ओर देखो! उसकी झलक-मात्र, जिसे सब लोग प्राप्त कर सकते हैं, संसार से युद्धों को लुप्त कर देगी।", वास्तव में धर्म-भावना की यह बहुत बड़ी विशेषता है, जिसकी ओर बर्गसन ने संकेत किया है और डा० राधाकृष्णनन् जिस पर मोहित हुए हैं। Religion शब्द Religio से बना है, जिसका अर्थ To bind together-(आपस में बाँधना) होता है। धर्म-भावना ही हमको बता सकती है कि हम सब प्राणिमात्र एक ही परमपिता की संतान हैं—अतः भाई भाई हैं, एक दूसरे के साथ बहुत ही घनिष्ट रूप में सम्बद्ध हैं। डा० साहब ने ठीक ही लिखा है कि "धर्म ही वह साधन है जो हमारे अन्तःकरण का स्पर्श करता है, पाप से संघर्ष करने में हमारी सहायता करता है, लोभ, लालच, घृणा आदि से हमारी रक्षा करता है, हमें नैतिक बल प्रदान करता है और संसार की सुरक्षा करने के लिए अपेक्षित साहस प्रदान करता है। धर्म-भावना

1 Roligin is based on the discovery of the essential w rth and dignity of the individual and his relation to a higher world of reality. (पृष्ठ सं० ४२)

का अर्थ ही यह है कि हम सत्य की सापेक्षिता में अपनी विचार-धारा को ढालें और उसी के अनुरूप आचरण करने का अभ्यास करें।"[१]

वस्तुतः बात ऐसी ही है। धर्म-भावना का अर्थ ही यह है कि हम आत्मवत् सर्वभूतेषु वाला मन्त्र हृदयंगम कर लेते हैं। और जब सब हमारे ही हैं अथवा हमारी ही प्रतिमूर्तियां हैं, तब किससे द्वेष और कैसा युद्ध ? हमारे आर्य ऋषियों की वाणी आज भी कितनी सत्य है कि "परमात्मा के स्वरूप (सर्वव्यापी) को जान लेना जीवन का सर्वोपरि फल है, जो इस अखण्ड और अनन्त सत्ता का वह ज्ञान प्राप्त किए बिना ही इस संसार से चला जाता है, वह सचमुच अभागा है। हम यदि उसे नहीं जानते हैं, तो यह हमारे जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है।

विभिन्न देशों में परमात्मा के दर्शन के अनुभव को विभिन्न भाषाओं में व्यक्त किया गया है। संसार का कोई देश ऐसा नहीं है जहाँ परमात्मा की चर्चा न की गई हो अथवा उससे सम्बद्ध धर्म-भावना का निरूपण न किया गया हो। वह अनुभव सर्वथा अलौकिक एवं विचित्र प्रकार के आनन्द का दाता होता है। हजरत मूसा उसके स्वरूप-दर्शन के साथ एक बार ही चिल्ला पड़े थे कि "अनन्त

---

१ पृष्ठ सं० ४२ वही।

२ निम्नलिखित शब्द किसी धार्मिक महापुरुष के मुख द्वारा ही निकल सकते थे—

O, hidden life ! vibrant in every atom!

O, hidden light, Shining in every creature,

O, hidden love, embracing all in one ness, may, each who feels himself as one with Thee, know he is, therefore, one with every other.

विश्वात्मा की मैं शरण हूँ, उसकी अनन्त भुजाएँ यहाँ महीतल पर मेरी रक्षा करती रहती हैं।" बात वही है। विभिन्न युगों में, विभिन्न व्यक्तियों द्वारा यही बात निभिन्न प्रकार से कही गई है। उस अखंड ज्योति के दर्शन होते ही, हम उसी ज्योति में विलीन हो जाते हैं—परमात्मा का दर्शन दर्शक को परमात्मा ही बना देता है। कबीर के शब्दों में लाल की लाली के साथ एकरस हो जाना ही वास्तविक धर्म-भावना का लक्षण है। यथा--

लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल
लाली देखन मैं गई, मैं भी होगई लाल।

अथवा

when we touch real we are
Lost into God, as lights, we fly Grown one with will.

—Janagd

प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० आइन्सटीन (Einstein) की भाँति डा० राधाकृष्णानन् का भी यही मत है कि "जो सदाचरण करता है वही परमात्मा का अंश हैं। न्याययुक्त व्यवहार करना, सौन्दर्य से प्रेम करना तथा सत्य की भावना को हृदय में धारण करके विनयशील बने रहना ही सबसे बड़ा धर्म (Religion) है।[1] मनुस्मृति में भी धर्म के दस लक्षण बताते हुए, यही लिखा है कि आत्मा ने प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्, अर्थात् जो बात अपने को प्रतिकल लगती हो, वह अन्य किसी के प्रति मत करो और न कहो। धर्म का वस्तुतः सबसे बड़ा लक्षण यही है कि हम सच्चे मानव बन जाएं, मानवता का दावा पूरा करने की हमारे भीतर सामर्थ्य सम्पादित हो सके। मजहब ही इन्सान में इन्सानियत पैदा करने की ताक़त

1 P 47 Religion and society

रखता है। आज कल की सभ्यता शहरों को बर्बाद करने के साधन तो उपलब्ध करती है, बर्बादी का सामान तो इकट्ठा कर रही है, परन्तु यह नहीं जानती है कि अपने आप को कल तक बचाएं कैसे ? यह काम धर्म ही कर सकता है, और इसी कारण आज के युग में धार्मिक पुनर्जागरण की परम आवश्यकता है।[२]

"परम सत्ता के प्रति आत्मसमर्पण का ही नाम धर्म है। उसी के द्वारा हमें विवेक प्राप्त होता है। उस विवेक-जन्य आचरण को अपने जीवन में ढाल कर ही हम धर्म का स्वरूप प्रस्तुत कर सकते हैं।"[३] सारांश यह है डा० साहब के मतानुसार धर्म केवल मानसिक एवं बौद्धिक स्तर पर निवास करने वाली कोई अलौकिक एवं गुह्य वस्तु नहीं है, वह तो जीवन में व्यवहृत होने वाली वस्तु है, वह हमें इस पृथ्वी पर ठीक तरह से रहना और चलना सिखाती है।[४] उक्त पुस्तक के 'Religion And The New World Order' नामक अध्याय में डा० साहब ने 'धर्म' के दुरुपयोग पर विचार करते हुए लिखा है कि यद्यपि धर्म का लक्ष्य सबको आपस में बांधना है, तथापि धर्म के नाम पर संसार में संघर्ष हुए हैं, और हो रहे हैं। ये संघर्ष राष्ट्र के स्तर पर ही नहीं सम्प्रदाय और वर्ग के स्तर पर भी हुए हैं। इनके कारण संसार की बहुत हानि हुई है इतनी हानि, जितनी राजा के युद्ध भी नहीं कर सके हैं।

आगे चलकर उन्होंने इन संघर्षों के मूल में स्थित कारणों एवं प्रेरणाओं पर सविस्तार विचार किया है और अन्त में यही

---

२ देखें पृष्ठ १८ वही।

३ पृष्ठ ४६ वही

4 If you want people believe in God, you should show what God can make you like "Emerson.

लिखा है कि समस्त धर्मों का एक ही धर्म है—पारस्परिक सहयोग एवं सहिष्णुता। धर्म का यह स्वरूप जब हमारी आँखों से ओझल हो जाता है, तभी हम आपस में लड़ने लग जाते हैं।

भारतवर्ष के इतिहास से उदाहरण देकर डा० साहब ने यह प्रमाणित किया है कि हिन्दू धर्म में सदा से सहिष्णुता रही है। और याज्ञवल्क्य ने सम्राटों को स्पष्ट आदेश दिए हैं कि प्रत्येक वर्ग के मनुष्यों की रक्षा करना तुम्हारा परम कर्त्तव्य (धर्म) है। सम्राट अशोक की सहनशीलताजन्य धर्म भावना विश्वविश्रुत है; क्षत्रपति शिवाजी यद्यपि मुसलमानों के कट्टर दुश्मन थे, तथापि उन्होंने उनके धर्मग्रन्थ क़ुरान को सदैव अपनी आँखों से ही लगाया था भागवत् धर्म का लक्षण ही यह है कि धर्मम् बाधयेत यः धर्मः, न स धर्मः कुधर्म तत्" जो धर्म दूसरे धर्म का विरोधी हो, वह धर्म नहीं कुधर्म है।

डा० राधाकृष्णनन् का स्पष्ट मत है कि सच्ची प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली भी धर्म-भावना के ऊपर ही आधारित हो सकती है।[१] × × हम जब तक संसार को एक बहुत बड़ा परिवार नहीं समझेंगे, तब तक विश्व-बन्धुत्व का स्वप्न चरितार्थ न हो सकेगा, हमारे हृदय में विश्व-बन्धुत्व के भाव पल्लवित न हो सकेंगे। = = = उपलब्ध साधनों को सर्व हिताय प्रयोग करने के लिए हमको अपना दृष्टिकोण बदलना होगा। यह कार्य धर्म-भावना के द्वारा ही सम्भव है। = = =

धर्म भावना संसार का पुनर्निमाण कर सकती है, शान्तिपूर्ण क्रान्ति उत्पन्न कर सकती है, परन्तु शर्त यही ही है कि उसको ठीक

---

१ यहाँ धर्म का क्षेत्र कुछ संकुचित है। वह अंग के रूप में ही है, अंगी नहीं।

तरह से समझा जाए और ठीक तरह से आचरण किया जाए ।,

संसार की राजनीति एवं शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए डा० साहब ने लिखा है कि किसी देश की सभ्यता का मुख्य आधार यह होता है कि उस देश के विचारक मानव जीवन को किस रूप में देखते हैं तथा मानव-जीवन का क्या लक्ष्य मानते हैं । मेरे विचार से धर्म-भावना के अभाव के कारण ही संसार के देश एक दूसरे के प्रति इतने कूट और कुटिल होगए हैं । शासन-व्यवस्था यदि धर्म-भावना पर आधारित हो, तो हमारे वर्तमान युग के अनेक अभिशाप एवं अवगुण स्वतः मिट जाएँ । उनके विचार से धर्म-निरपेक्षता हमारे युग की प्रमुख दुर्बलता है । यथा—
Secularism is the chief weakness of our Age"
(Page 20, Religion and Society).

यह विचार-धारा हमारे चरित-नायक के सर्वदा अनुरुप ही है । अपनी पुस्तक My Search for Truth में वह लिखते हैं कि—

" If ever the spirit is to be at home in this world and not merely a prisoner or a fugitive, secular foundations must be laid deep and preserved worthily" (Page 11)

अर्थात् संसार की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि आध्यात्मिकता की विरोधी शक्तियों की नींव दृढ़ कर दी जाए" । एक स्थान पर वह कहते हैं कि secularism हमारी प्रमुख दुर्बलता है और दूसरे स्थान पर वह उसी दुर्बलता को सुरक्षित रखने की बात करते हैं क्योंकि उसी की सुरक्षा के ऊपर हमारी (संसार की) भावी सुरक्षा निर्भर है ।[1]

---

1. Secular का अर्थ Dictionary में इस प्रकार दिया गया है—pertaining to the present world, not spiritual, secularism—world liners ;

अभी कुछ ही दिन पहले—२३ मई सन् ५६ को-डा० साहब ने नई दिल्ली में भाषण करते हुए कहा था कि Secularism (धर्मविहीनवाद) विश्व में धर्म तथा दर्शन का सर्वोत्कृष्ट अंश है।"

हमारी समझ में ये उपर्युक्त दो विचार-धाराएँ परस्पर विरोधी हैं। इस विरोध का कारण हमारी समझ में नहीं आता है। डा० साहब ने भी अभी तक इस सम्बन्ध में कोई स्पष्टीकरण प्रस्तुत नहीं किया है।[२]

हिन्दू धर्म के ऊपर गम्भीर एवं सविस्तर विवेचन करने के बाद डा० साहब ने लिखा है कि, "हमको चाहिए कि धार्मिक विचार और आचरण के महत्व को समझ लें। हिन्दू धर्म को यदि अपनी विजयनी शक्ति प्राप्त करके उन्नत होना है, तो उसको संसार के अनेक भागों में पहुँच कर अपनी व्यवहारोपर्णता प्रमाणित करनी चाहिए।[3]

Secular—one who discarding religious belief and worship, applies himself exclusively to the things of this life, one who holds that education should be apart from religion.

२. श्री गयाविष्णु बिसरन ने, नई दिल्ली वाले भाषण के ऊपर टिप्पणी रूप में लिखा है कि, " = = जबकि १९४७ में उनका कथन था—सेक्युरिज्म आज के युग की सबसे बड़ी निर्बलता है (Religion and society, P 20)। विचारक राधाकृष्णनन् और उपराष्ट्रपति राधाकृष्णनन् में इतना परिवर्तन हो सकता है, यह राजपद की महत्ता है।

(पृ० सं० १५१, सिद्धान्त, वर्ष १३, अंक ७)

३. पृष्ठ-संख्या १३८ वही।

७

दार्शनिक विचार

दर्शन का निरूपण करते हुए अथर्ववेद में लिखा है कि—

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोता प्रजा इमाः ।
सूत्रस्य सूत्रं यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत् ॥

जिसने उस सूत्र का पता चला लिया जिसमें यह सब प्रजा अर्थात् उत्पन्न हुए पदार्थ ओत-प्रोत हैं और जो उस सूत्र के भा सूत्र को पहचानता है, वही ब्रह्म-वेत्ता है

जिस प्रकार माला के एक धागे में अनेक प्रकार के फूल गुँथे होते हैं और उस माला की मुख्य धारक-शक्ति माला का धागा है, उसी प्रकार इस जगत् की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ एक विशेष तत्त्व पर आधारित हैं। उसी तत्त्व को जानना ब्रह्मज्ञता है। ब्रह्मज्ञता और तत्त्व-दर्शन पर्याय हैं । उनमें भेद नहीं। ब्रह्म है ही वह महत्तम सूत्र जिसमें सभी सूत्र पिरोये हुए हैं। वह सूत्र का भी सूत्र होने से 'महतो महीयान्' और सर्वव्यापक और सूक्ष्म से सूक्ष्म होने से अणोरणीयान् है। इसी सूत्र का जानना दर्शन है, और इसीकी अनुभूति से मनुष्य जीवन के दुःखों से तर जाता है।

'दर्शन' शब्द का अर्थ है देखना एवं 'देखने के साधन'। इसका मेल 'दृश' धातु से है, जिसका प्रयोग 'चाक्षुष' ज्ञान के अर्थ में होता था। किन्तु कालान्तर में चाक्षुष ज्ञान के सदृश ही जो

विस्पष्ट ज्ञान हो, उसमें भी यह शब्द प्रयुक्त होने लगा। इसलिए दर्शन शब्द से अब तीनों प्रकार के अर्थों का बोध किया जाता है। यथा—

(क) चाक्षुष ज्ञान और उसके साधन।
(ख) विस्पष्ट ज्ञान और उसके साधन।
(ग) सामान्य ज्ञान और उसके साधन।

इस प्रकार शब्दार्थ के अनुसार सभी प्रकार का ज्ञान 'दर्शन' ही कहा जाना चाहिए। और वस्तुतः आजकल 'दर्शन' की दशा भी प्रायः यही है। प्रत्येक विचार-धारा के लिए अँग्रेजी के शब्द Philosophy का प्रयोग किया जाने लगा है। राजनीतिज्ञों की Philosophy, अर्थ-शास्त्रियों की Philosophy, सत्याग्रहियों की Philosophy, वैज्ञानिकों की Philosophy, धर्म-गुरुओं की Philosophy, आदि। और तो और आजकल तो आततायियों एवं आक्रमणकारियों की भी एक विशेष Philosophy मान ली गई है। अस्तु।

यदि ऐसा ही है, तो प्रत्येक शास्त्र को दर्शन-शास्त्र तथा प्रत्येक विचार-धारा को दर्शन कहा जाना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है। आत्मा, ईश्वर आदि अतिगूढ़ तत्त्वों के ज्ञान व उसके साधनों को व्यक्त करने के लिए ही 'दर्शन' शब्द निरूढ़ हो गया है। भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य" इत्यादि रूप से आत्मा के दर्शन का विधान पाया जाता है। आत्मा का इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष तो कभी हो ही नहीं सकता; अतः दर्शन शब्द का अर्थ विस्पष्ट ज्ञान ही मानना पड़ता है, और हम भी प्रायः इसी अर्थ में इस व्यापक अर्थ को ग्रहण करेंगे।

"महात्मा गाँधी को शंकराचार्य, डीकार्टे, या काण्ट की कोटि के दर्शनकारों में गिनना तो कठिन होगा। वह कारण-तत्त्वात्मक न थे।

वह थे सूत कातने वाले। उन्होंने सभी प्रकार की कपास से सूत कात-कात-कर एक उत्कृष्ट वस्त्र (खद्दर) तैयार कर दिया। वह पुरतः प्रमाण और स्वतः प्रमाण, शब्द की नित्यता या अनित्यता, छः इन्द्रियाँ हैं या पाँच इन्द्रियाँ, अद्वैत ठीक है या विशिष्टाद्वैत, इसके झमेले में नहीं पड़ते। जहाँ से जो दार्शनिक कपास मिलगई, उसी का प्रयोग करते हैं। गान्धियन फिलौसफ़ी यही भिन्न-भिन्न फिलौसफ़ियों की कपास से काते हुए सूत का बुना कपड़ा है। वर्तमान युग में इसका प्रभाव बहुत अधिक है।

इस प्रभाव के विस्तृत करने में श्री राधाकृष्णनन् का विशेष हाथ है। उनके द्वारा गाँधी-फिलौसफ़ी भारतीय सीमा से ऊपर उठ कर विश्व की फिलौसफ़ी बन गई है।"[१]

डा० राधाकृष्णनन् ने भारतीय वेदान्त को सांस्कृतिक रूप प्रदान करके उसको लोकोपयोगी बना दिया है।[२] इनकी दार्शनिकता की यही सबसे बड़ी विशेषता है।[3]

श्री राधाकृष्णनन् अपने आपको सर्वत्र आदर्शवादी बताया है। उनका स्पष्ट कथन है कि भारतवर्ष की प्राचीन आदर्शवादी विचार-धारा के वह उपासक हैं तथा उनका समस्त चिन्तन और दर्शन उसी पर आधारित है।

आदर्शवादी का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि डा० राधाकृष्णनन् किसी विशेष सम्प्रदाय अथवा विचार-धारा से बँधे हुए

---

१. पूर्व और पश्चिम के दार्शनिक विचार, गंगाप्रसाद उपाध्याय।

2 Vivekanand made Vedanta the National Philosophy of India Radhakrishnan has made it a cultural philosophy for the world (Dr. B. P. Singh).

3. "Idealist" के आधार पर।

हैं। वह न किसी वाद-विशेष के अनुयायी हैं और न किसी सम्प्रदाय-विशेष के ही समर्थक हैं। उनका आदर्शवाद यथार्थ पर आधारित है और मानव के उच्चतम रूप का दर्शन करता है। वह मानव को बहुत ही ऊँचा उठाना चाहते हैं, साथ ही पैरों को जमीन पर भी रखना चाहते हैं---उनका आदर्शवाद ऐसा नहीं है जो जमीन को छोड़ कर केवल आसमान की बात करे। उनका दर्शन इसी लोक की वस्तु है, परलोक अथवा किसी अजनबी जगह की चर्चा नहीं है। यही कारण है कि डा० राधाकृष्णनन् के लिए पूर्व और पश्चिम के दर्शन में कभी कोई मौलिक भेद रहा ही नहीं। उनके विचार से दार्शनिक के लिए इस प्रकार के भेद का प्रश्न उठना ही नहीं चाहिए। वह उपनिषदों में वर्णित दर्शन के उपासक एवं अनुयायी हैं, परन्तु साथ ही अर्वाचीन विचार-धाराओं के समर्थक हैं और उनको आदर की दृष्टि से देखते हैं। उनका सुनिश्चित विचार है कि कोई भी व्यक्ति अपने पूर्वजों को पुनः उत्पन्न नहीं कर सकता है और जीवन को किसी एक विशेष ढाँचे अथवा कटहरे में बन्द भी नहीं कर सकता है। उन्नतम को यथार्थ से सम्बद्ध करके डा० राधाकृष्णनन् ने उपनिपदों की चिन्ताधारा को एक प्रकार से नवीन स्वरूप प्रदान किया है अथवा उसकी ऐतिहासिक परम्पराओं की नये सिरे से व्याख्या की है। इस प्रकार उन्होंने दर्शन को सांस्कृतिक स्वरूप प्रदान करके उपनिषदों की चिन्ता-धारा का पुनरुद्धार किया है। उन्होंने आधुनिक सभ्यता से उत्पन्न नवीन वातावरण में मानव की प्राचीन मान्यताओं का पुनः मूल्यांकन एवं स्थान-निर्धारण किया है। उन्होंने बताया है कि आर्ष ऋषियों द्वारा वर्णित हमारी प्राचीन मान्यतायें और परम्परायें आधुनिक युग में, विज्ञान और

पाश्चात्य सभ्यता के इस युग में किस प्रकार और किस हद तक हमारी सहायता कर सकती हैं।

डा० राधाकृष्णनन् की चिन्ता-धारा आत्मा (Spirit) पर आधारित है। उनके विचार से संस्कृति का दर्शन आत्मा का दर्शन है। आत्म-विकास ही दार्शनिक का सर्वोपरि लक्षण होना चाहिए!

नोट—चूंकि यह पुस्तक किशोरावस्था के बालकों के ही लिए लिखी गई है, इसलिए हम 'दर्शन की विवेचना में और आगे नहीं बढ़ना चाहते हैं। जो कुछ लिखा है, वह भी केवल विषय की चर्चा करने-मात्र के उद्देश्य से ही लिखा गया है।

'दर्शन' शब्द के अर्थ को हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं। आत्मा का प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा तो कभी हो ही नहीं सकता है। अतः दर्शन का अर्थ विस्पष्ट ज्ञान अथवा आत्म-ज्ञान ही मानना पड़ता है। इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए श्रुति में तीन साधन बतलाए गए हैं—"श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः" अर्थात् श्रुत ज्ञान, मनन तथा निदिध्यासन।

आचार्यों ने इस कारिका का इस प्रकार विवरण दिया है—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।

मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शन हेतवः।

अर्थात् दर्शन के साधन तीन हैं—जो क्रमानुसार इस प्रकार हैं—

(क) पहिले श्रुति के वाक्यों से वाक्यार्थ विचार कर आत्मा आदि तत्वों का श्रवण करना।

(ख) फिर उन तत्वों के ऊपर अपने मानसिक बल के अनुसार युक्तिपूर्वक मनन एवं विचार करना।

(ग) और अन्त में जब वह सुनी हुई बात युक्तिसंगत होकर मन में जम जाए, तब उसका निरन्तर ध्यान करना अर्थात् चित्तवृत्ति को निरन्तर उसकी ओर लगाना।

इन साधनों द्वारा प्राप्त ज्ञान सर्वथा प्रत्यक्ष दर्शन के समान ही होता है, और फिर इस ज्ञान के डगमगाने की कोई सम्भावना नहीं रह जाती है।

जैसे प्रत्यक्ष देखी हुई अथवा आँखों द्वारा देखी हुई बात में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता है, उसी प्रकार इन साधनों के द्वारा आत्मा और ईश्वर-सम्बन्धी असन्दिग्ध और अभ्रान्त ज्ञान की प्राप्ति होजाती है। अतः इस विस्पष्ट ज्ञान को 'दर्शन' कहना सर्वथा समीचीन ही है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि हमारे चरितनायक को विस्पष्ट ज्ञान प्राप्त हो चुका है। आत्मा वा ईश्वर के सम्बन्ध में उनका ज्ञान सर्वथा असन्दिग्ध एवं अभ्रान्त है। उन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया है, उनके वर्ण्य-विषय पर मनन एवं विचार किया है और साथ ही उस ओर अपनी चित्त-वृत्ति को भी उन्मुख किया है। सारांश यह है कि विस्पष्ट ज्ञान के तीनों साधनों का पूर्णतया पालन किया है। ऐसी साधना का फल 'दर्शन के स्वरूप ज्ञान के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है! कैसाही कठिन अवसर हो, कैसाही कठिन परीक्षा का समय हो, उनका 'दर्शन' उनका साथ नहीं छोड़ता है। आत्म-ज्ञान उन्हें विवेक-पूर्ण कर्त्तव्य का निर्देश करता ही रहता है। उनकी कर्त्तव्य-बुद्धि सदैव संतुलित बनी रहती है।[1]

---

१. डा० साहब ने स्वयं भी लिखा है कि "I have had firm faith in he reality of an unseen world behind the influx of phenomena, , world which we apprehend not 'with the senses but with the

आत्मा और परमात्मा से सम्बन्धित ज्ञान का वह असाधारण वस्तु मानते हैं—वह उसे इन्द्रियों एवं लौकिक साधनों से परे की वस्तु मानते हैं। इस विषय में उनके विचार बहुत ही दृढ़ एवं सुनिश्चित हैं। उनका स्पष्ट मत है कि आन्तरिक ज्ञान के फलस्वरूप ही विस्पष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष अनुभव के फलस्वरूप ही साधक को उस असन्दिग्ध एवं अभ्रामक ज्ञान की प्राप्ति होती है, जिसको विचारकगण 'दर्शन', 'आत्मज्ञान' 'विस्पष्ट' आदि संज्ञाएँ देते आए हैं। यथा—[2]

"विज्ञान के साधन एवं सिद्धान्त यद्यपि प्रकृति के ऊपर विजय प्राप्त करने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं तथापि वे सत्य का उद्घाटन नहीं कर सकते हैं। अणु और परमाणु (Electrons and Protons) परमसत्ता के रहस्य को प्रकट नहीं कर सकते हैं। परमात्मा और आत्मा का सम्बन्ध गणित के किसी गुरु अथवा सिद्धान्त के द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। कभी कभी हम अपने ऐसे विश्वासों के प्रति प्राणों तक का उत्सर्ग करने को तैयार हो जाते हैं जिनका तर्कपूर्ण विचार-धारा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता है। अपने जीवन के महत्वपूर्ण निर्णय करने के लिए हम सर्वदा निश्चित सिद्धातों का ही अनुसरण नहीं करते हैं। × × हमारी आन्तरिक प्रेरणाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि सर्वात्मा का ज्ञान एवं सत्य का अनुभव हमारी सामर्थ्य के बाहर की वस्तुएँ नहीं हैं। हमारा विवेक उस दिशा में भी हमारी सहायता करेगा ही।

एक प्राचीन दार्शनिक ने भी इसी प्रकार की बात कही थी कि

---

mind, and even when I was faced with the grave difficulties, this faith has remained unshaken."

२. देखें पृष्ठ-संख्या २८, २९ My Search for Truth'

'तारों भरा आसमान तथा हृदय की पुकार परमात्मा के अस्तित्व के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ।[1]

सन् १९२६ में हार्वर्ड विश्वविद्यालय (अमरीका) में Philosophical Congress हुई थी। उसमें व्याख्यान देते हुए डा० राधाकृष्णनन् ने महत्वपूर्ण शब्द कहे थे कि "विज्ञान बाह्य जीवन के निर्माण में हमारीं सहायता करता है, परन्तु अपने आत्मा को शक्तिशाली बनाने एवं उसका विकास करने के लिए एक अन्य प्रकार की साधना अपेक्षित है। 'दर्शन' ही हमारे नैतिक और आध्यात्मिक जीवन का निर्माण करता है।"

हमारे चरित्र-नायक की यह सुनिश्चित धारणा है कि हमारे समाज के नव-निर्माण की आधारशिला दार्शनिकता ही होगी। वे ही व्यक्ति भावी समाज का नव-निर्माण कर सकेंगे, जिन्होंने अपने जीवन को अधिक संश्लेषणात्मक बना लिया है अर्थात् जिनको विस्पष्ट ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है। हमारे समाज का दोषपूर्ण संगठन वस्तुतः उन लोगों के लिए एक चुनौती है जिन्हें आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो चुका है, एवं जिनको आत्मिक बल प्राप्त हो चुका है। जिन महानुभावों को आध्यात्मिक शक्तियों में विश्वास है, और साधना के फलस्वरूप जिनको आत्मिक बल की प्राप्ति हो चुकी है, उन लोगों का कर्त्तव्य है कि अपनी त्याग-शीलता एवं निःस्वार्थ-भावना के द्वारा इस संसार में परमात्मा का साम्राज्य स्थापित करें ताकि प्रेम और पुण्य का बोलबाला हो सके।"

वास्तव में डा० राधाकृष्णनन् की दार्शनिक विचार-धारा सर्वथा भारतीय है। भारतवर्ष के दार्शनिकों ने संसार से दूर भाग

---

1. Starry heaven above, and the voice of the conscience are proof positive of the existence of God."Kant

जाने का उपदेश कभी भी नही दिया है। भारतवर्ष का दर्शन व्यक्ति को द्विगुणित उत्साह एवं लग्न के साथ जीवन में प्रवृत होने की शिक्षा देता है। कर्मक्षेत्र में कूद पड़ने की प्रेरणा प्रदान करना भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी विशेपता है। स्वार्थ-भावना से आक्रान्त व्यक्ति तो असफलता के फलस्वरूप हताश होकर हाथ पर हाथ रख कर बैठ भी सकता है परन्तु जो व्यक्ति निःस्वार्थी है, जो हानि-लाभ के प्रति निरपेक्ष है, उसके लिए निराशा का प्रश्न ही नहीं उठता है। अतः वह कर्मक्षेत्र में निरन्तर एकरस बना रहकर उत्साहपूर्वक संलग्न बना रहता है। निष्काम होकर सेवा-भाव से कर्म करते रहने की प्रेरणा प्रदान करना भारतीय दर्शन को सबसे बड़ी विशेषता है।[१] जो व्यक्ति समाज के दुखों की ओर से उदासीन है, वह कैसे कह सकता है कि संसार के कण-कण में उसको परमात्मा के स्वरूप का दर्शन होता है? परमात्मा सत्य है और वास्तविकता यह है कि सूत्ररूप से वह संसार के प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त है। अतः समाज का विकास करना, उसको दोषमुक्त करना आत्मज्ञानी का सर्वोपरि कर्त्तव्य होना चाहिये।

'दर्शन' के क्षेत्र में विकास-वाद (Evolution) के सिद्धान्त का बहुत महत्व है। इस सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा विभिन्न प्रकार के अनुभव प्राप्त करने के लिए इस संसार में विभिन्न योनियाँ धारण करता है। यद्यपि समस्त जीवात्मा एक ही परमात्मा के अंश होने के कारण बराबर हैं—भाई-भाई हैं, तथापि विकास-क्रम के अनुसार कुछ अधिक विकसित हैं और कुछ अपेक्षाकृत कम विक-

---

१. 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' 'तथा सर्वधर्मान्‌ परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' (गीता)

2. The imperfect social order is a challenge to those who have achieved inner strength and integrity.

सित हो पाए हैं—यानी कुछ जीवात्मा बड़े भाई के समान हैं और कुछ छोटे भाई के समान हैं। विकास-क्रम को हम यदि एक सीढ़ी मान लें तो स्पष्ट है कि कुछ जीवात्मा सीढ़ी के ऊपर वाले डण्डों पर खड़े हैं और कुछ उसके नीचे वाले डण्डों पर खड़े हैं। हम यदि चाहते हैं कि ऊपर वाले हमारा हाथ पकड़ कर हमें ऊपर खींच लें, तो हमें चाहिये कि अपनी अपेक्षा नीचे जीवात्माओं को सहारा देकर अपनी ओर यानी ऊपर की ओर खींचें।

हम देखते हैं कि आदर्शवादी महानुभावों के प्रयत्नों के फल-स्वरूप ही मानव-समाज अथवा यह संसार इतनी उन्नति कर सका है। उन त्यागशील महानुभावों के जीवन का एक ही उद्देश्य था—आत्म-ज्ञान प्राप्त करना, समाज को उन्नत बनाना तथा अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक भाई की यथाशक्ति सहायता करना। सारांश यह है कि प्राणियों के विकास का मूलाधार पारस्परिक सहयोग ही है। विकासवाद का सिद्धान्त प्रेम की नींव पर ही खड़ा रह सकता है। डा० राधाकृष्णनन् ने सम्भवतः इसी सिद्धान्त से प्रभावित होकर लिखा कि कि "The stronger individuals help the weaker ones until all are saved,"[1] अर्थात् अपेक्षाकृत अधिक बलशाली महानुभावों को चाहिए कि वे अपनी अपेक्षा दुर्बल एवं निर्बल व्यक्तियों की सहायता करें। यह कार्य, एक-दो, चार-दस वर्षों में समाप्त हो जाने वाला नहीं है। उसका क्रम अपार है। पारस्परिक सहयोग एवं सेवा के द्वारा ही समाज का भविष्य सुरक्षित बनाया जा सकता है।

जीवन और दर्शन—

"अपने अध्यापक-जीवन में मैं अनेक नवयुवकों और नवयुवतियों

---

1. Page 31 'My Search for Truth'

के सम्पर्क में आया हूँ। अपने अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि जो लोग भाग्यशाली हैं और जिन्हें कम मुसीबतों का सामना करना पड़ता है, उन्हें यह न समझ लेना चाहिये कि वे सदैव ऐसे ही बने रहेंगे। हमको यदि सुख और चैन का जीवन व्यतीत करने का अवसर मिलता है, तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने उन अभागे भाई-बहिनों का दुःख दूर करने की बात सोचा करें, जो हमारी अपेक्षा कम भाग्यशाली हैं तथा जिनको अनेक प्रकार की कठिनाइयों के बीच जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है। मेरे विचार से 'दर्शन शास्त्र' अर्थकरी विद्या नहीं है—यह एक उपयोगितावादी विद्या नहीं है। यह तो हमारे दृष्टिकोण को अधिक उदार एवं हृदय को अधिक संवेदनशील बनाने वाली शिक्षा है। इसका उद्देश्य ही यह है कि आदमी दुनियादारी से ऊपर उठ जाए तथा अपनी परिस्थितियों के ऊपर विजय प्राप्त कर ले। यह हमारे मन-मानस में एक ऐसी शक्ति का बीजरोपण करती है जो हमें वे वस्तुएँ प्रदान करती हैं, जिन वस्तुओं को यह दुनियाँ देने में सर्वथा असमर्थ है। यह हमको वह शक्ति प्रदान करती है जिसके द्वारा हम असफताओं पर विजय प्राप्त करते हैं, दुःख का सामना करते है, कठिनाइयों को ठुकराते हैं तथा न कभी जीवन में हताश होते हैं और न कभी ऊबते ही हैं।"[2] संक्षेप में व्यक्ति का निर्माण करना ही 'दर्शन' का लक्ष्य है।

इनके विचार से दर्शन का जीवन में सबसे बड़ा उपयोग यह है कि हम प्रतिदिन एक-दो घंटे शान्तिपूर्वक एकान्त में अपने कार्यों एवं अपने कर्त्तव्यों पर विचार करें। अपने ऊपर मनन करने की शिक्षा देना 'दर्शन' का सर्वप्रथम उद्देश्य होना चाहिये। शान्ति

2. Page 34, वही।

एवं ध्यान के इन क्षणों में हमारा हृदय आत्मा से बात करता है और हमें अपने अन्तरात्मा की आवाज़ सुनाई पड़ती है। यही वह आवाज़ है जो हमें उस अनन्त शक्ति एवं परम सत्ता का परिचय देती है। इसीको सीमित की असीम के प्रति मिलन की विकलता कहिये, चाहे परवश जीव का स्ववश आत्मा को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना कहिये। हम अकेले में जो कुछ करते हैं, वस्तुतः वही 'धर्म' है।

प्रत्येक व्यक्ति के मन में एक पूजा-गृह होता है, वहाँ हम जब चाहें जा सकते हैं और जितनी देर चाहें, बैठ कर ध्यान लगा सकते हैं।[1] वहीं हमको यह विदित होता है कि हम वास्तव में कैसे हैं; बाहरी दुनियाँ कैसी है और हम उसमें किस प्रकार घुलमिल गए हैं। हम देखेंगे कि हम में अधिकांश व्यक्ति स्वयं अपने आपको धोखा देते रहते हैं। केवल आत्म-निरीक्षण ही हमारी रक्षा कर सकता है। आत्म-चिन्तन के शान्तिमय इन क्षणों में हम 'सत्य' के निकट पहुँच जाते हैं और उसी समय हमको यह अनुभव होता है कि हम परमात्मा के प्यारे किस प्रकार बन सकते हैं।

उपवास करना और जोर-जोर से चिल्ला कर प्रार्थना अथवा कीर्तन करने का नाम ही पूजा नहीं है। हृदय का पूर्ण निवेदन ही सच्ची पूजा है। मृग की नाभि में कस्तूरी रहती है, परन्तु वह समझता है कि उसकी सुगन्ध कहीं बाहर के किसी लता-वृक्ष से आ रही है और वह उसकी खोज में चारों ओर मारा मारा फिरता रहता है। इसी प्रकार, परमात्मा तो हमारे मन-मन्दिर में निवास करता है। उसको प्राप्त करने के लिए हमें केवल भीतर की ओर

---

१. दिल के आइने में है तस्वीरे' यार,
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली।

मुड़ना है—बाहर संसार में खोजने के स्थान पर, उसको अपने भीतर मन-मन्दिर में देखने की कोशिश करें।

बाह्य उपचारों को त्याग कर अन्तर्मुखी होने की चर्चा करते हुए डा० साहब ने संस्कृत के एक श्लोक का उल्लेख किया है। वह श्लोक जीवन की समस्त कठिनाइयों को सहज ही सुलझा देता है तथा सच्चे 'दर्शन', ईश्वर-दर्शन, विस्पष्ट ज्ञान का स्वरूप प्रस्तुत कर देता है। यथा—

"विवेकहीन व्यक्ति गहरे सागरों में डुबकी लगाते हैं, गहन वनों में जाते हैं तथा परमात्मा की पूजा के लिए पुष्पों की खोज में ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों के ऊपर चढ़ते हैं जबकि परमात्मा की भेंट चढ़ाने के लिए उपयुक्त कमल का पुष्प उसके पास ही रहता है और वह है उसका मन।" × × सीधी-सी बात यह है—हम परमात्मा को कोई दूषित पदार्थ नहीं चढ़ा सकते है।" उसका मन्दिर सर्वथा पवित्र है और वह मन्दिर तुम्हीं ही तो हो।"[१] वस्तुतः डा० साहब के मतानुसार 'दर्शन का फल है जीवन का एक निश्चित उद्देश्य प्रस्तुत कर देना और साथ ही उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रेरणा प्रदान करना।

जीवन का मूल्यांकन—

वही महान् है जो शान्त-चित्त होकर और धैर्यपूर्वक कार्य करता है। मन की शान्ति का मूल्य जीवन में बहुत है—सम्पत्ति एवं स्वास्थ्य से भी अधिक। जिनके पास अधिक सम्पत्ति है अथवा जिनको अधिक शिक्षा मिली है, वे ही वस्तुतः महान् नहीं हैं।

---

१. कस्तूरी कुण्डल बसै मृग ढूंढै बन मांहि।
ऐसे घट घट राम हैं दुनियाँ देखै नाँहि।

1. "The temple of God is holy which ye are."

परमात्मा को गरीबों एवं अशिक्षितों का भी उतना ही ध्यान रहता है। हमारे जीवन में वास्तविक महत्व रखने वाले तत्त्व कुछ अन्य ही हैं। जैसे हम अन्य व्यक्तियों के लिए कितना दया-भाव बरतते हैं, हम कितने ईमानदार हैं, हम अपने प्रति किस सीमा तक सचाई का व्यवहार करते हैं। सारांश यह है कि हम अपने सम्पर्क में आने वालों के प्रति कैसा व्यवहार करते हैं।

परदुःखकातरता का विवेचन करते हुए डा० राधाकृष्णनन् ने स्पष्ट ही लिखा है कि "कष्ट सहन के फलस्वरूप ही हमें बुद्धि-विवेक की प्राप्ति होती है।"[२] × × दुःख प्रायः दण्ड न होकर एक प्रकार की साधना के रूप में आता है। × × कष्ट-सहिष्णुता ही वह माध्यम है जिसके द्वारा हमारा विकास होता तथा ज्ञान-वर्द्धन होता है। × × आनन्द का मार्ग दुःख-दर्द में होकर जाता है। मानव जब दुःख-दर्द को इच्छापूर्वक अपने ऊपर ले लेता है, तभी उसके सम्मुख आनन्द का मार्ग खुल जाता है।

डा० साहब ने सत्य का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि सत्य सदा स्वाभाविक एवं सुन्दर रहता है; सत्य ही हमारा सनातन धर्म है; प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह सत्य की पूजा करे, उसके सम्मुख नतमस्तक हो, सत्य ही कर्त्तव्य है, सत्य ही तप है, सत्य ही योग है और वही परब्रह्म का स्वरूप है। सत्य के विषय में यह ठीक ही कहा गया है कि वह सर्वश्रेष्ठ त्याग एवं बलिदान है।

हम अगर राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि अपने इष्ट देवों के प्रति सच्ची श्रद्धा रखते हैं तथा उनके पद-चिह्नों पर चलना चाहते हैं

---

2. It is by suffering that we understand. Page 40 'My Search for Truth'

१. देखे पृष्ठ सं० ४७ वही।

तो हमको चाहिए कि उनकी भाँति निर्बलों की सहायता करें तथा दीन-दुःखियों को धैर्य बँधायें। जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप ही यह है कि हम संसार के सुख को बँटा नहीं सके हैं। श्रीमद्भागवद् के शब्दों में हमारे जीवन का यही एक लक्ष्य होना चाहिए कि हम दूसरों को प्रसन्न करने का प्रयास करें, संसार के दुःख और कष्टों को कम करने में अपनी समस्त शक्तियाँ लगा दें तथा निराश व्यक्तियों के हृदय में आशा-किरण का संचार कर सकें।"

उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि हमारे चरितनायक की दार्शनिक विचारधारा सर्वथा व्यावहारिक है और वह हमें जीवन के कर्म-क्षेत्र का सौन्दर्य दिखाने वाली है। 'दर्शन' की सार्थकता ही यह है कि वह प्राणिमात्र में व्याप्त सर्वात्मा की झाँकी पाये और संसार में छाये हुए दुःख को कम करने में प्रयत्नशील होकर उस सर्वात्मा का अंश होने का दावा पूरा करे। दुःख-दर्द में होकर जाने वाले आनन्द मार्ग का देखना ही वास्तविक 'दर्शन' अथवा विस्पष्ट ज्ञान है। सेवा-मार्ग का साक्षात्कार ही सच्चे दार्शनिक का धर्म होना चाहिए।

---

1. Lives of Great men all remind us
   We can make our lives sublime,
   Parting leaves behind us,
   Foot-prints on the sands of time.

२. न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गम् न पुनर्भवम्।
   कामये दुःखतप्तानाम् प्राणिनाम् आर्तिनाशनम्।
   (भागवत् १६/२१-११)

: ८ :

देश-प्रेम

जातीय जीवन की प्रभा जिसमें कभी आई नहीं।
वह व्यर्थ हो जन्मा जगाया जाति को जिसने नहीं॥

डा० राधाकृष्णनन् के मन में जातीय जीवन की प्रभा, स्वदेश का गौरव कूट-कूट कर भरा हुआ है। इन्होंने अपने देशवासियों को जगाकर अपने जीवन को सर्वथा सार्थक किया है। उन्हें भारतवर्ष के अतीत की प्रत्येक स्मृति के प्रति आस्था है, उसकी गौरव-गाथा के प्रत्येक पृष्ठ के साथ उनका रक्त-मांस जैसा सम्बन्ध है। प्राचीन भारत की संस्कृति की चर्चा करते समय उनका शरीर पुलकित हो उठता है, उनका प्रत्येक रोम प्रसन्नता का अनुभव करता है। वह कहीं भी हों, कुछ भी कर रहे हों, उनका मन अपने प्यारे भारत-वर्ष में लगा रहता है। उनके शरीर का प्रत्येक कण भारतीय है, उनके रक्त की प्रत्येक बूँद भारतीय है तथा उनकी प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में भारत माता की गुण-गाथा का स्पन्दन उपस्थित रहता है।

कोई प्रसंग हो तथा कैसा भी एवं कोई भी अवसर हो, चरित-नायक का देश-प्रेम सदैव जाग्रत एवं सजीव बना रहता है। अवसर मिलते ही वह अपने देश की महान् संस्कृति, उसकी महती परम्प-राओं की चर्चा करना नहीं भूलते हैं। उन्हें अपने देश के ऊपर गर्व है, देश को उन पर गर्व है।

अपने आरम्भिक जीवन तथा अपनी शिक्षा-दीक्षा की चर्चा करते हुए आपने लिखा कि वे ईसाइयों के मदरसे में पढ़ते थे। जैसा कि ईसाइयों का स्वभाव होता है अथवा उनके जीवन का लक्ष्य होता है, वे भारतवर्ष की संस्कृति के विरुद्ध बहुत-सी बातें कहते रहते थे। डा० साहब को उनकी बातें प्रायः खटकने लगती थीं—उन्होंने स्वामी विवेकानन्द के व्याख्यान सुने, तब तो मानों वह एक प्रकार से विचलित ही हो उठे थे जैसे किसी ने उनको नीचे से ऊपर तक झकझोर दिया हो। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "मेरे लिए यह विश्वास करना कठिन था कि हिन्दू ऋषि-मुनि जिनका जीवन के साथ इतना निकट सम्पर्क था, तथा जो हमारी इस महती संस्कृति के निर्माता थे, वास्तव में धार्मिक नहीं थे। × × मेरे विचार से तो हमारे देश के गांवों के अशिक्षित लोग तथा गरीब आदमी भी, जो अपने पारिवारिक रीति-रिवाजों से बँधे हुए थे और धर्म के नाम पर कुछ रस्म-अदायगी भर कर लेते थे अथवा कुछ तीज-त्यौहार भर मना लेते थे, धर्म से काफी परिचित थे। इतना ही नहीं, मेरे विचार से तो वे लोग इन आरामतलब बुद्धि-वादी पादरियों की अपेक्षा (जो अपने को सर्वथा मुक्त मानते थे तथा धर्म-प्रचार भर के लिए चारों ओर घूमते फिरते थे) आत्मा और ईश्वर से कहीं अधिक परिचित थे। × × इन ईसाई पादरियों के लिए परमात्मा चाहे बौद्धिक-विलास भर की वस्तु हो, परन्तु हमारे देश के ये अपढ़ एवं गरीब भाई यह बात भली प्रकार जानते हैं कि कोई अलौकिक एवं अदृश्य शक्ति समस्त विश्व में व्याप्त है और विश्व के समस्त कार्यों का संचालन कर रही है।

विभिन्न युगों के विभिन्न विचारकों ने जग और जीवन के विषय में विभिन्न प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। कहने की

आवश्यकता नहीं है कि हमारे देश का शायद ही कोई ऐसा निवासी हो जो इन विभिन्न सिद्धान्तों की मोटी-मोटी बातों से परिचित न हो। हमारे देशवासियों के लिए जीवन एक पानी के बुलबुले के समान क्षण-भंगुर है और सुख के दिनों का कोई भरोसा नहीं है। राजा और रङ्क सबको एक न एक दिन जाना ही पड़ता है—जो आया है सो जाएगा, राजा, रंक, फकीर। आदि।"[1]

पाठकों ने स्वयं ही देख लिया कि डा० साहब अपनी शिक्षा-संस्था के अभिभावकों के द्वारा भी यह सुनने को तैयार नहीं थे कि भारतवासी धर्म के तत्त्वों से परिचित नहीं हैं। देश और देश-वासियों के विरुद्ध छोटी सी बात भी उन्हें विचलित कर देती है। और ठीक ही है—

जिसमें न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,
वह नर नहीं है पशु निरा है और मृतक समान है।

ईसाई पादरियों के मुकाबिले में इन्होंने अपने देश के अपढ़ एवं गँवार कहे जाने वाले लोगों को भी धर्म के तत्त्वों से अधिक अवगत

---

1. My pride as a Hindu roused by the enterprise and eloquence of Swami Vivekanand was deeply hurt by the treatment accorded to Hinduism in missionary institutions. Even the poor illeterate villagers with their ancient household traditions and religious observances seemed to me to be more familiar with the spiritual mystery enveloping this world than the emancipated, comfort-minded intellectuals eager for life and adventure. They were aware of the ancient truths and maxims which the spectacle of human life has suggested to thinking minds in all ages. Life is short and happiness uncertain. Death comes to all, prince and peasant alike.

(Page 6, 7, 'My Search for Truth'

बना दिया। यह कम बात नहीं है। "हिन्दुओं के ऋषि और मुनियों के सामने तो ये पादरी पानी भरते दिखाई देंगे", सम्भवतः डाक्टर साहब परोक्षरूप से यही कहना चाहते हैं।

अपने देशवासियों में प्रचलित भाँति-भाँति के तथाकथित अन्ध-विश्वासों के प्रति भी उनके हृदय में सम्मान है। डा० साहब उनका भी मूल्य मानते हैं। उनके विचार से वे केवल ढकोसले नहीं हैं, जीवन में उनका भी स्थान है। उनका विचार है कि हमारा नारी-वर्ग अनेक अन्ध-विश्वासों एवं टोटकाओं को मानता है। हम इन बातों को बुरा तो बताते हैं, परन्तु यह भूल जाते हैं कि इन्हीं के आधार पर, शताब्दियों से चली आईं इन परम्पराओं के पालन के फलस्वरूप ही हमारी नारियाँ आज दिन तक इतनी पवित्र, शालीन एवं कोमलहृदय बनी हुई हैं। एक यात्री जो गगा में एक गोता लगाने के लिए अपनी सब पूँजी, जिन्दगी भर की कमाई खर्च कर देता है, जो जगन्नाथपुरी तक पहुँचने के लिए अपने गाँठ की पाई-पाई खर्च कर डालता है, जो बनारस अथवा कैलास पहुँच कर शिव जी के दर्शन करने के पीछे अनेक कष्ट उठाता है और मुसीबतें झेलता है-आदि। वह आपके विचार से सब कुछ योंही व्यर्थ ही करता है? मेरे विचार से नहीं। बाहर से देखने पर वह केवल एक मूर्ति के दर्शन भर करता है अथवा बहते पानी की एक धार में डुबकी भर लगाता है, परंतु उसके इन कार्यों के पीछे एक प्रबल विश्वास रहता है, और वह यह कि मनुष्य केवल रोटी के लिए ही जीवित नहीं रहता है। यह विचार-धारा कि "रोटी ही हमारे जीवन का सर्वस्व नहीं है, मनुष्य-जीवन का लक्ष्य पेट भर लेना नहीं है, उसका लक्ष्य इसकी अपेक्षा कहीं अधिक महान् है"—क्या कुछ कम महत्त्वपूर्ण है। आप सहमत होंगे कि संसार के

दार्शनिकों ने अपने जीवन के इसी एक दृष्टिकोण का सदैव प्रतिपादन किया है कि रोटी अथवा रुपये-पैसे में अपने जीवन को सीमित कर देना मानवता का अपमान करना है। हमारे देश का बच्चा, जिसे आप गँवार कहते हैं, उक्त सिद्धान्त की बौद्धिक व्याख्या भले ही न कर सकता हो, परन्तु वह उसे अपने जीवन में व्यवहृत करना अवश्य ही जानता है। वह भगवान के नाम पर अपना सर्वस्व स्वाहा करने को लालायित बना रहता है—उसके नाम पर अपने पास फूटी कौड़ी भी न रखना, उसको जरा भी नहीं अखरता है।"

अपनी इस विचार-धारा के फलस्वरूप डा० साहब बड़े से बड़े आदमी के सामने; बड़े से बड़े जन-समुदाय में, डंके की चोट यह बात कह सकते हैं कि "यद्यपि हमारे देश में अनेक अन्धविश्वास हैं, और उन अन्धविश्वासों ने हमारे देश का बहुत अहित भी किया है तथापि यह नहीं कहा जा सकता है कि हमारे देशवासियों में धर्म-भावना का अभाव है।" × × × हमारे देश में प्रत्येक माँ अपने बच्चे को यही सीख देती है कि अगर तू धार्मिक बनना चाहता है, तो परमात्मा से प्रेम करना, पाप मत करना, सबके प्रति संवेदनशील रहना तथा जो लोग मुसीबतों में हों उनकी सहायता करना। × × आदि।" डा० साहब बुद्धिवादी धर्म के ठेकेदारों से सीधा प्रश्न करते हैं कि ये विचारधारायें क्या धर्म-भावना से रहित हैं ? ये विचार क्या कम समझदारी से भरे हुए

---

१ हमारे देश के स्कूलों में छोटे-छोटे बालक नित्य यही प्रार्थना करते हैं कि 'वह शक्ति हमें दो दयानिधे कर्त्तव्य मार्ग पर डट जावें।'

× × × ×

जो हों अटके, भूले भटके, उनको तारें खुद तर जावें

× × × ×

जिस देश-जाति में जन्म लिया, बलिदान उसी पर हो जावें।

हैं। आप क्या सब भी यही कह सकते हैं कि अर्द्धसभ्य हिन्दुओं के धार्मिक विचार अज्ञानपूर्ण हैं ?

हम डाक्टर साहब के विचार से अक्षरशः सहमत हैं। हिन्दुओं ने इन कार्यों को बुद्धि एवं तर्क की कसौटी पर परख कर भले ही न देखा हो, परन्तु उनको यह अवश्य मालूम है कि भगवान का नाम सदा सुखदायी है, खेत में पड़ा हुआ बीज अवश्य ही अंकुरित होता है। भगवान का नाम एवं उसके नाम पर किया जाने वाला काम हमारे मन में एक विचित्र प्रकार की सिहरन पैदा कर देता है, एक अनोखी आनन्द-पद्धति की स्थापना कर देता है। इस आनन्द-पद्धति के अन्तर्गत हम अपना सर्वस्व समर्पण करने को तैयार हो जाते हैं। यह क्या कम बड़ी बात है ? ठीक ही है—

भाँय कुभाँय अनख आलसहूँ।
नाम जपत मंगल दिशि दसहूँ।
तुलसी अपने राम को रीझि भजौ कै खीझ।
उलटो सूधो ऊग है खेत परे को बीज।
(गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस)

उपर्युक्त शब्द उसी व्यक्ति के मुख से निकल सकते हैं जिसकी नस-नस में भारतीय रक्त हो, जिसके प्रत्येक श्वास में भारतीय आत्मा का स्पन्दन हो तथा जिसके हृदय की प्रत्येक धड़कन में देश और जाति के गौरव की धड़कन हो।

यह तो हुई हमारे तथाकथित धार्मिक अन्धविश्वासों तथा रीति-रिवाजों के सम्बन्ध में डा० साहब की विचार-धारा की चर्चा। हिन्दू धर्म के विषय में, हिन्दू धर्म के प्रामाणिक रूप के विषय में तो उनके और भी दृढ़ एवं जोरदार विचार हैं। संक्षेप में, हिन्दू धर्म के खिलाफ तो वह एक शब्द भी नहीं सुनना चाहते हैं।

उनका स्पष्ट कहना है कि, "हिन्दुओं के रीति-रिवाज कुछ भी हों, हिन्दू धर्म का व्यवहारिक रूप कैसा भी हो गया हो, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि वह एक ऐसा धर्म है जिसका इस संसार से कोई सम्बन्ध ही नहीं है तथा जो केवल परलोक की ही चर्चा करता है।"[1]

आत्मा, परमात्मा तथा धर्म के उद्देश्यों का विश्लेषणात्मक विवेचन करते हुए डाक्टर साहब ने पूरी शक्ति के साथ लिखा है कि, "हिन्दू धर्म का मानव जीवन के साथ काया और छाया का सम्बन्ध है, हिन्दू धर्म और जीवन एक-दूसरे के साथ ऐसे घुल-मिल गये हैं कि उन्हें एक-दूसरे से पृथक् करना सर्वथा असंभव ही है। दार्शनिक ज्ञान को सामाजिक व्यवहार में ढालना भारतीय सभ्यता का सदा से लक्ष्य रहा है।" ठीक ही है, जो धर्म अपने सिद्धान्त पक्ष को व्यावहारिक बना देने की क्षमता रखता है, उसकी शक्ति की सीमाओं को कौन बाँध सकता है? उसकी शक्ति अपार समझी जानी चाहिए। हमारे चरित-नायक की ठीक यही धारणा है। डा० साहब के सम्मुख हिन्दुत्व के ऊपर आक्षेप अथवा आक्रमण करते सोते हुए शेर को जगा देना है।

डा० राधाकृष्णनन् ने हिन्दू धर्म के 'वेदान्त' मत के अन्तर्गत 'मायावाद' का भी समर्थन किया है। लोगों का कहना है कि 'मायावाद' के अनुसार यह संसार कोरा भ्रम है। अतः यह मत हमको सांसारिक कर्त्तव्यों से विमुख कर देता है। इस आक्षेप का उत्तर देते हुए डा० साहब ने लिखा है कि जो लोग ऐसा कहते हैं वे कदाचित् यह समझते ही नहीं कि मायावाद वस्तुतः है क्या?

---

1. Whatever way be the Hindu practice, Hindu religion cannot be regarded as unworldly or other worldly.

मायावाद को धर्माचरण से दूर बताना अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना-मात्र है। उन्हें समझ लेना चाहिए कि धर्माचरण अथवा सदाचार और मायावाद का कोई विरोध नहीं है। जगत् को माया-मय बताने वालों का तो केवल यह कहना है कि जगत् की सृष्टि किसी परम सत्ता पर निर्भर है, उसी परम सत्य से जगत् की उत्पत्ति हुई है। संसार नश्वर है, इसका प्रत्येक पदार्थ नाशवान् है—केवल वही परम सत्ता ही अपरिवर्तित बनी रहती है—क्षय और नाश के नियम का एकमात्र अपवाद वही है। अतः जगत् उस परम सत्ता की अपेक्षा निम्न स्तर की वस्तु है।"

इतना ही नहीं डा० साहब ने यह भी लिखा है कि मायावाद के प्रवर्तक स्वयं शंकराचार्य ने ब्रह्म के विभेद करके संसार के प्रति कर्त्तव्याकर्त्तव्य का प्रतिपादन किया है। वेदान्त मतावलम्बी अन्य महापुरुषों ने भी 'मायावाद की व्याख्या जगत और ससार को दृष्टि में रखकर की है। निष्कर्ष वही है कि हमारे चरितनायक की दृष्टि में भारतवर्ष की मिट्टी और उसमें उत्पन्न प्रत्येक वस्तु अपना विशिष्ट महत्व रखती है। वह कही भी मुट्ठी-भर मिट्टी उठा लें, उनके कानों में भारत की जमीन स्पष्ट कहती हुई सुनाई पड़ती है कि तुम ठीक हो, और भारतवर्ष के आर्यों की संस्कृति का मार्ग इधर होकर ही गया है। डा० साहब को अपनी प्राचीन सभ्यता के प्रति अनुराग ही नही, प्रगाढ़ श्रद्धा भी है। जो लोग आधुनिक सभ्यता के चकाचौंध में प्राचीन को नहीं देख पाते हैं तथा प्राचीन महापुरुषों एवं उनकी विचार-धारा को अपूर्ण एवं दोषयुक्त बताते हैं, उनको लताड़ बताते हुए डा० साहब ने बहुत ही सुन्दर शब्द कहे हैं, यथा—"जब तक हम अपने आधुनिक होने का पाठ तोते की तरह दोहराते हैं," "हम नई रोशनी के हैं, हम प्रगतिशील हैं"

वाक्यांशों को जब तक हम तोते की तरह बार-बार रटते रहेंगे और यह कहते रहेंगे कि पुराने जमाने में था ही क्या, पुराने लोगों में अनेक दोष थे, उनके विचार अपूर्ण थे तथा वे लोग अपनी आदतों के गुलाम हैं, तब तक हमारे पल्ले कुछ भी न पड़ेगा हम हँसी भले ही उड़ालें।

डा० राधाकृष्णनन् को अपने देश की सभ्यता और संस्कृति की मान्यताओं एवं परम्पराओं पर ही नहीं, अपितु उसकी प्राचीनता पर भी गर्व है। उनका कहना है कि पिछले पाँच हजार वर्षों में संसार की न मालूम कितनी सभ्यतायें एवं संस्कृतियाँ मिट गईं, परन्तु हमारे देश की संस्कृति का बाल-बाँका भी नहीं हुआ है। मेरे विचार से तो भारतवर्ष की संस्कृति कहीं अधिक पुरानी है, परंतु आजकल के विद्वान् उसको पाच हजार वर्ष पुरानी ही मानते हैं और उनके मतानुसार भारतवर्ष की सभ्यता मिस्र और बेबीलोनिया की सभ्यताओं की समकालीन थी। थोड़ी देर के लिए हम यही बात माने लेते हैं कि भारतवर्ष की सभ्यता मिस्र और बेबीलोनिया की सभ्यतायें हैं जितनी पुरानी है; परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या कारण है कि वे सभ्यतायें तो नष्ट हो गईं और भारतवर्ष की सभ्यता आज तक अक्षुण्ण बनी हुई है? उसकी यह प्राचीनता उसकी शक्ति, उसके आन्तरिक बल की द्योतक है।

इन पाँच हजार वर्षों में भारतवर्ष के ऊपर विदेशियों के न मालूम कितने राजनीतिक एवं सांस्कृतिक संकट आए, परन्तु फिर भी हमारे देश की सभ्यता अपनी उसी प्राचीन शक्ति को लिये हुए

---

1. "So long as we keep reminding ourselves that we are modern and that these ancients had faults and passions that we do not share, we can never achieve more than caricatures of these thinkers." (P. 17 'My Search for Truth').

आज भी जीवित है। ऐसे भारतवर्ष में, जिसकी सभ्यता की दीवालें इतनी ठोस और मजबूत नींव के ऊपर खड़ी हुई हैं, जन्म लेना कुछ कम गौरव एवं सौभाग्य की बात नहीं है। संभवतः डा० राधाकृष्णानन् के कानों में कवि के निम्नलिखित शब्द प्रतिक्षण प्रतिध्वनित होते रहते हैं—

× × × ×

सुर लोक से भी अनुपम ऋषियों ने जिसको गाया।
देवेश को जहाँ पर अवतार लेना भाया।
वह मातृभूमि मेरी वह पितृभूमि मेरी।

वह तो यह सीधा-सा हृदयस्पर्शी प्रश्न पूछते हैं कि "भारतवर्ष की सभ्यता के अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था में आखिरकार ऐसी कौनसी रसायन है, जिसके द्वारा वह अपने विजेताओं को सदा से आत्मसात् करती चली आई है।"[1] और बात बहुत ठीक है। यहाँ बड़े-बड़े बली और विजेता आए। उन लोगों ने यहाँ लूट-मार की, भाँति-भाँति के अनाचार एवं अत्याचार किये, यहाँ के निवासियों के ऊपर शासन किया, अपनी भाषा को राज-भाषा बनाया, अपने पहनावे के हाथ में तलवार भी दे दी, परन्तु वे यहाँ की मूल मान्यताओं को न बदल सके। उन्होंने अपनी भाषा, अपना साहित्य, अपने विचार, अपने रीति-रिवाज आदि सभी कुछ हमारे ऊपर लादने की चेष्टा की, अपने प्रयत्न में वे कुछ समय के लिए सफल होते हुए भी दिखाई दिये—परन्तु आश्चर्य की बात यह रही कि वे समस्त प्रभाव ऊपरी सतह पर ही रह गए—नीचे की तह तक न

---

1. By what strange social alchemy has India subdued her conquerors transforming them to her very self and substance?
(p. 101, 'Society and Religion')

जा पाये । फलतः भारतवर्ष की सभ्यता की मौलिक परम्परायें आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई हैं । इतनी उथल-पुथल और इतने दिनों की विदेशी दासता के बाद, आज भी भारतवासी राम राम एवं जय श्री कृष्ण द्वारा एक-दूसरे का अभिवादन करते हैं, राम और भरत के भ्रातृ प्रेम पर आज भी पुलकित हो उठते हैं, राम की कथा सुनकर झूम उठते हैं, कृष्ण की गीता के वाक्यों को धर्म-वाक्य एवं ब्रह्म-वाक्य समझते हैं तथा इस विज्ञान एवं युद्ध-विग्रह के युग में अहिंसा द्वारा शान्ति के साम्राज्य को स्थापित करने का सुखस्वप्न देखते हैं—यह कोई कम बड़ी बात नहीं है । हमारे चरितनायक को ऐसी शक्तिशाली एवं अक्षय सभ्यता का निर्माण करने वाले अपने देश भारतवर्ष पर भरपूर गर्व है । अन्धकार के इस वातावरण के बीच ज्योतिस्तम्भ के समान प्रकाश विकीर्ण करने वाले राधा-कृष्णनन् पर हम सबको गर्व है ।

: ६ :

युद्ध और अहिंसा

डा० राधाकृष्णनन् के Religion and Society के पाँचवें पाठ में इस विषय पर सविस्तर लिखा है। आवश्यक अंशों को हिन्दी में अनूदित करके पाठकों के ज्ञान-वर्द्धन के हेतु यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

उनके विचार उद्धृत करने के पूर्व एक बात की ओर संकेत कर देना परम आवश्यक प्रतीत होता है। भारतीय संस्कृति 'शान्ति की संस्कृति' है। विश्व-बन्धुत्व इसका मूलाधार है। ऐसी संस्कृति के उपासक यदि सत्य और अहिंसा की ओर आकर्षित हों, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

विश्व-बन्धुत्व के संदेश को लेकर चलने वाली भारतीय संस्कृति के उपासकों ने यह बात आज से शत सहस्त्र वर्ष पूर्व कही थी कि "उदार चरितानाम् वसुधैव कुटुम्बकम्"। कहने की आवश्यकता नहीं है कि हमने अभी तक अपने चरित्रनायक का जो स्वरूप देखा है, उसके आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि वह विश्व के कण-कण में एक ही परमसत्ता का अनुभव करते हैं, उनके विचार से विश्व के प्रत्येक पदार्थ में उसी परमसत्ता का स्पन्दन उपस्थित रहता है। ऐसा उदारमना व्यक्ति यदि युद्ध को निरर्थक और अहिंसा

---

* मनुष्य वास्तव में एक भावुक प्राणी है। वह प्रायः बिना सोचे-विचारे काम कर डालता है। फिर बाद में, अपनी बुद्धि के द्वारा उन्हें युक्ति-युक्त सिद्ध करने का प्रयास करता है।

को मानव का सर्वोपरि धर्म मानता है, तो यह सर्वथा उसके व्यक्तित्व के अनुकूल ही है।

समाज में शक्ति एवं बलपूर्वक वशीभूत (प्रतिरोध) करना, इन दो मानव के अस्त्रों का समाज में क्या स्थान है, तथा महात्मागांधी की अहिंसा का क्या उपयोग है, इस प्रश्न पर विचार करते हुए डा० राधाकृष्णनन् ने लिखा है कि युद्ध के विषय में शताब्दियों से यह धारणा चली आई है कि वह एक सामाजिक आवश्यकता है। युद्ध समाज के लिए हितकर हैं तथा जीवन के आवश्यक अंग हैं। भगवान ने हमको बुद्धि दी है, साथ ही तर्क करने की शक्ति भी। इनके द्वारा हम अपने प्रत्येक कार्य को युक्ति-संगत सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। (सम्भवतः युद्धों के औचित्य का प्रतिपादन करते समय भी कदाचित् हमारी यही प्रवृत्ति कार्य करती है।) लोग प्रायः यही करते हुए सुने जाते हैं कि मानव-समाज के हित के लिए ही युद्ध हुआ करते हैं।"

इस स्थल पर डा० साहब ने उन अनेक महापुरुषों[1] के विचार उद्धृत किए हैं जिन्होंने युद्धों को मानव समाज को आवश्यक बताया है, हितकर बताया है, इतना ही नहीं, यहाँ तक कह डाला है कि युद्धों के अभाव में मानव-समाज न मालूम कब का नष्ट हो गया होता ?

युद्ध के मतों के समर्थकों का सारांश इस प्रकार है :—

(क) पुरुष को युद्ध-कला में प्रवीण करना तथा नारी को सैनिकों का मनोरंजन करने के लिए तैयार करना ही किसी समाज का उद्देश्य होना चाहिए।[2]

Nietzsche, Ruskin, Moltke, Bernhardi, Oswald Spengler, Mussolini, और Sir Arthur Keith इनके मतों का उल्लेख किया है।

(ख) दुर्बल एवं उपेक्षित राष्ट्र युद्ध के द्वारा ही उन्नति कर सकते हैं। उनको जीवित रखने के लिए यही एक महौषधि है।[3]

(ग) मेरे विचार से प्रत्येक राष्ट्र अपनी शक्ति, विचार-धारा का युद्ध-काल में ही वास्तविक मूल्यांकन कर पाता है। समस्त राष्ट्रों की यही कहानी है कि युद्ध-काल में वे पोषित हुए और शान्ति के दिनों में नष्ट हो गए; युद्ध की कठिनाइयों ने उन्हें शिक्षा दी तथा शान्ति के दिनों ने उन्हें धोखा दिया।[४]

(घ) युद्ध मानव-जीवन का एवं परमात्मा द्वारा निर्मित संसार का एक अभिन्न अङ्ग है। इसी के द्वारा मनुष्य की सद्वृत्तियों का उद्घाटन होता है।

(ङ) कलम करते रहने से बाग के पौधे अच्छी तरह बढ़ते हैं। इसी प्रकार युद्ध मानव-समाज की काँट-छाँट करके उसको ठीक तरह से उन्नति करने का मौका देते हैं।

इस प्रकार बहुत दिनों तक युद्ध की महत्ता का प्रतिपादन होता रहा। डा० साहब के विचार से युद्ध की महत्ता का यह प्रतिपादन अनावश्यक एवं भ्रमपूर्ण था। क्योंकि, "समय के साथ मानव का अन्तःकरण भी विकसित हो गया है। और आज हम युद्ध की महानता का ढिंढोरा नहीं पीटते हैं, बल्कि खेद के साथ कहते हैं कि क्या बतायें वे हमारे समाज का अंग बन गए हैं, अर्थात् आज का मानव युद्ध को स्वभावगत एक अवगुण के रूप में स्वीकार करता है।"[1] और ठीक ही है। संयुक्तराष्ट्र-संघ (United Nations organisation), विश्व-बन्धुत्व की चर्चा, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

2, 3. Nietzsche Ruskin Meltke, Sir Arthur Keith.

1 "The consolence of man has grown with times and to day wars are not glorified. but accepted with request (P. 200)

की स्थापना आदि प्रयत्न इस बात के प्रमाण हैं कि सभ्य मानव-समाज युद्धों की निरर्थकता को स्वीकार कर चुका है और अपने इस स्वाभावगत अवगुण को छोड़ने के लिए वह प्रयत्नशील है। आज चारों ओर हमको शान्ति-स्थापना एवं युद्ध के निराकरण की चर्चाएँ सुनाई पड़ती हैं। संसार के विचारकों ने अभी पिछले ५-६ वर्षों के भीतर ही भीतर कई बार युद्ध को टालने के सफल प्रयत्न किए हैं। स्वेज़ नहर वाला उदाहरण इसका ज्वलन्त प्रमाण है। युद्ध यदि उन्नति के लिए आवश्यक होते अथवा यदि उनके द्वारा स्थायी निर्णय सम्भव होते, तो तोपों का गर्जन कब का आरम्भ हो गया होता ?

डा० राधाकृष्णनन् के मतानुसार सामूहिक हत्या का ही नाम युद्ध है। यदि सामूहिक हत्याएँ हमारे उत्थान का हेतु होती हैं, तब फिर पारस्परिक सद्भावना स्थापित करने के प्रयास; पंचशील के सिद्धान्त का सम्मान आदि सब बातें व्यर्थ ही हैं। तब क्या मानव की बुद्धि भ्रष्ट होगई है ? अथवा सभ्यता के विकास के साथ बुद्धि का ह्रास हो गया है ?

डा० साहब ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि जब मनुष्य का माथा फिर जाता है, तभी वह युद्ध में प्रवृत्त होता है। कौन नहीं जानता है कि युद्ध-काल में शिक्षा एक प्रकार से ठप्प हो जाती है। केवल एक ही शिक्षा दी जाती है—समाज का संहार करने की, जो दिखाई दे, उनकी हत्या करने की[२]।

हम जानवरों जैसी घृणा को हृदय में लेकर युद्ध करते हैं। छल-फरेब के द्वारा अपनी रक्षा करते हैं[3]। हम यदि चाहते हैं कि

---

2 Page 200.

3 We fight the enemy with a heart full of savage hatred, and a head fortified by scientific cunning. . . . .

सामाजिक अवस्था में आवश्यक परिवर्तन हो, विश्वबन्धुत्व का आदर्श अवतरित हो, तो हमको धर्म-भावना की शरण में जाना होगा। कहने की आवश्यकता नहीं है कि पूर्व और पश्चिम के समस्त धर्मों ने अहिंसा (अद्वेष, अ-बैर, सद्भावना, प्रेम) को ही सर्वोपरि ठहराया है। सारांश यह है कि हमारे चरितनायक के मतानुसार युद्ध में प्रवृत होना धर्म के विरुद्ध आचरण करना है। हम यदि धर्माचरण करना चाहते हैं, तो हमारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य यह हो जाता है कि हम युद्धों के प्रति विरक्त हो जाएँ।

हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों में अहिंसा को सर्वोच्च गुण माना गया है। हिंसा का त्याग अहिंसा है। हिंसा का अर्थ किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाना है। यह कष्ट शारीरिक हो सकता है और मानसिक एवं शाब्दिक भी हो सकता है। सारांश यह है कि हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों के अनुसार किसी भी प्राणी को मन, वचन तथा कर्म, किसी भी प्रकार से कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है। हम किसी के प्रति अप्रिय शब्द न कहें, किसी का अहित-चिन्तन न करें तथा किसी को शारीरिक पीड़ा न पहुँचाएँ-तभी हम अहिंसक कहे जा सकते हैं। वस्तुतः यह एक आध्यात्मिक गुण है और इसकी प्राप्ति के द्वारा ही मानव मानव बन सकता है। डा० राधाकृष्णानन् इसी प्रकार की अहिंसा के उपासक हैं—वह इसको मानव का सर्वोच्च गुण मानते हैं। डा० साहब ने उपनिषदों में वर्णित बलिदानों की विस्तृत व्याख्या की है, तथा साथ ही यह भी बताया है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को किस कारण युद्ध करने की प्रेरणा प्रदान की थी। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि हिन्दुओं के उपनिषदों तथा गीता में हिंसा की शिक्षा दी गई है। डा० साहब ने स्पष्ट ही लिखा है कि शक्ति के प्रयोग में प्रभोक्ता की भावनायें

और उसके उद्देश्य का ध्यान रखना परम आवश्यक है। "शक्ति के प्रयोग को हम निरपेक्ष भाव से नहीं देख सकते हैं। डाक्टर का चाकू चीर-फाड़ करता है और उसके द्वारा रोगी को पीड़ा पहुँचती है, फिर भी उसका प्रयोग वर्जित नहीं है। वह चाकू सर्जन का है, अथवा किसी हत्यारे का, बस सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यही है।[1] सारांश यह है कि हमारा उद्देश्य क्या है, हम स्वार्थवश कोई कार्य कर रहे हैं, अथवा परमार्थ की भावना से ? अतः हिंसा-अहिंसा में स्थूल स्तर पर भेद स्थापित करना अत्यन्त दुस्तर है। उनकी सापेक्षता का निर्णय सूक्ष्म स्तर पर ही किया जा सकता है।" हिंसा और अहिंसा का विवेचन करते हुए हमारे चरितनायक ने हिंसा और दण्ड का अन्तर स्पष्ट करके वस्तुतः वस्तुस्थिति को सर्वथा स्पष्ट कर दिया है। उनका कहना है कि "इस अपूर्ण संसारमें सब लोग साधु-संत तो नहीं हैं। अतः समाज की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए शक्ति का प्रयोग अनिवार्य है। सतयुग में सब लोग धर्माचरण करते थे, अतः शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं थी ; परन्तु कलियुग में लोग अपने धर्म से च्युत होगए हैं; अतः शक्ति का प्रयोग आवश्यक हो गया है। हमारे ऋषि-मुनियों ने दण्ड-धर्म का पालन करने के लिए एक पृथक् वर्ग-क्षत्रिय ही बना दिया। क्षत्रियों के एक पृथक् वर्ग की स्थिति इस बात का प्रमाण है कि सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए शक्ति का प्रयोग करना ही पड़ेगा। मनु और याज्ञवल्क्य ने भी दण्ड का विधान किया है। परन्तु उसका उद्देश्य विनाशकारी न होकर निर्माणकारी है। दीन-दुःखियों, अपाहिजों एवं निर्बलों की रक्षा के लिए ही

---

1 Whether it is the knife of a surgeon, or of a murderer, makes all the difference. (Page 203, Religion and Society).

शक्ति के प्रयोग का विधान किया गया है। जब शक्ति का प्रयोग किसी के प्रति किया जाता है, तो वहाँ भी उस व्यक्ति का सुधार करना ही अभीष्ट होता है। समाज को अराजकता से बचाने के लिए अवांछनीय तत्त्वों के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग सर्वथा वैध एवं युक्तियुक्त ही कहा जाएगा।

हिंसा वस्तुतः दण्ड से सर्वथा भिन्न वस्तु है। प्रथम का उद्देश्य किसी निरीह प्राणी को सताना होता है, द्वितीय का लक्ष्य अपराधी के ऊपर नियन्त्रण करना होता है।

हिन्दुओं के विभिन्न धर्मग्रन्थों की चर्चा करते हुए आप निष्कर्ष के रूप में लिखते हैं कि "हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों ने मुक्त कण्ठ से अहिंसा की प्रशंसा की है, उनके अनुसार "अहिंसा-परमोधर्मः" ही जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मन्त्र होना चाहिए। परन्तु इसके साथ ही, समाज की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए उन ग्रन्थों में उन अवसरों एवं स्थितियों का भी उल्लेख कर दिया गया है, जहाँ अपवादस्वरूप हिंसा अथवा शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। × × हम किसी नियम के पालन में अपवादस्वरूप जितने कम अवसर स्वीकार करते हैं, हमारी सभ्यता उतनी ही उच्चकोटि की समझी जानी चाहिए। बालकों को निर्दयतापूर्वक शिक्षा देने के तरीके तथा अपराधियों के भद्दे ढंग से दण्ड देने के तरीके, सर्वथा त्याज्य हैं।

पूर्ण अहिंसा हम सबके जीवन का पवित्र आदर्श होना चाहिए। और यदि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में हमें कुछ अपवाद स्वीकार करने पड़ते हैं, तो हमको सखेद ही ऐसा करना चाहिए।[1]

इसके पश्चात् श्रीराधाकृष्णनम् ने ईसाई-धर्म के अन्तर्गत

---

1 Page 206. Religion and Society)

विवेचित अहिंसा का सविस्तार निरूपण किया है। उन्होंने लिखा है कि ईसाई धर्म के अन्तर्गत भी 'अहिंसा' को बहुत कुछ इसी स्वरूप (हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित रूप) में ही ग्रहण किया गया है। महात्मा ईसा ने युद्ध का सर्वथा निषेध किया है। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया है कि क्रोध मानसिक हिंसा है और उसके कारण हमारे विवेक के दूषित होजाने का खतरा उपस्थित हो जाता है। "who soever is angry with his brother is in danger of the Judgment."

ईसाइयों में इस सम्बन्ध में दो विचार-धाराएँ मिलती हैं। युद्ध को वैध बताने के लिए कुछ ईसाई Old Testament का उल्लेख करने लग जाते हैं। डा० राधाकृष्णनन् ने इन लोगों की बात को भ्रमपूर्ण बताया है और कहा है कि इन सब बातों के लिए Old Testament और New Testament के पचड़े में क्यों पड़ते हो? उपदेशों के शब्दों की अनावश्यक रूप से ऊहापोह क्यों करते हो? महात्मा ईसामसीह के जीवन-चरित्र को क्यों नहीं देखते हो? आप लोग उनके आचरण के द्वारा प्रतिष्ठित आदर्शों को क्यों नहीं देखते हैं? वे सर्वथा अहिंसक थे। वह अपराधी और आततायी पर भी क्रोध करना अनुचित समझते थे। वह उन्हें दया का पात्र समझते थे क्योंकि They know not what they do. Father forgive them! वाले दृष्टिकोण से बड़ा और क्या प्रमाण होगा—ताकि हम महात्मा ईसू को अहिंसा का पुजारी मान सकें।

डा० साहब को इस बात का हार्दिक खेद है कि ईसाई धर्म के मानने वाले राष्ट्रों ने महात्मा ईसा की शिक्षाओं की प्रायः भ्रमपूर्ण व्याख्या की है अथवा उनको गलत समझा है। महात्मा

ईसा ने परमात्मा को प्राणी-मात्र का पिता बताया और इस प्रकार परोक्षरूप से विश्वबन्धुत्व का प्रतिपादन किया। परन्तु ईसाई धर्म का अवलम्बन करने वाले राष्ट्रों ने उनकी उक्त वाणी पर एक प्रकार का पर्दा सा डाल दिया और अन्य राष्ट्रों के ऊपर शक्ति का प्रयोग करने के लिए वे निकल पड़े।

श्री राधाकृष्णनन् ने ईसा मसीह की शिक्षाओं, ईसाई पादरियों द्वारा की गई व्याख्याओं तथा ईसाई राष्ट्रों के आततायी-पूर्ण व्यवहारों, सब के ऊपर प्रत्येक दृष्टिकोण से विचार किया है। अन्त में निष्कर्ष रूप में आपने ये महत्त्वपूर्ण शब्द लिखे हैं कि—
"The christian conscience is growing. + + We are beginning to feel that, if we are to be regarded as civilised, we must make an attempt to eliminate wars altogether. There is such a thing as the evolution of human conscience, the growth of our sense of right and wrong." अर्थात् ईसाइयों के विवेक का विकास हो रहा है अर्थात् ईसाई धर्मावलम्बियों में पहले की अपेक्षा अधिक सद्बुद्धि आ गई है। हम लोग अब यह अनुभव करने लगे हैं कि यदि हम सभ्य कहलाना चाहते हैं तो हमें युद्धों का सर्वथा त्याग ही करना होगा। युद्धों का बहिष्कार किए बिना हम सभ्य कहे जाने के अधिकारी नहीं हैं। मानव के अन्तःकरण का विकास भी होता है—ऐसा हम कहते हैं। यह अन्तःकरण विवेकशीलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भले-बुरे की पहिचान, कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का सम्यक् निर्णय ही विवेक अथवा अन्तःकरण कहा जाता है। उसका विकास ही सभ्यता का विकास है।"

१ देखें पृष्ठ-संख्या २०७–२१०

. .

युद्ध के विषय में—जैसा कि हम अन्यत्र निवेदन कर चुके हैं कि विलायत के अनेक विचारकों ने युद्धों के औचित्य एवं उनकी आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। हमारे डा० साहब इस विचार-धारा के प्रबल विरोधी हैं। युद्धों के द्वारा की गई जन-धन की हानि को देखते हुए उनका कहना है कि, "हमारी उन कार्यों से अधिक हानि होती है जिन्हें हम ठीक समझते हैं, जिन कामों को हम गलत समझते हैं, वे बहुत कम हमारी हानि कर पाते हैं। तथा-कथित भले आदमी युद्धों का आरम्भ एवं संचालन करते हैं, तथा बुरे कहे जाने वाले व्यक्ति लूट-मार करते हैं और डाके डालते हैं। विचार करने पर विदित होगा कि द्वितीय श्रेणी के व्यक्तियों (बुरे) की अपेक्षा प्रथम श्रेणी के लोग (भले) कहीं अधिक संसार का अहित करते हैं।"

इन तथाकथित सभ्य आदमियों के कारनामों का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि, "अपराधियों को न्यायानुसार भाँति-भाँति से शारीरिक वेदनाएँ पहुँचाई जाती हैं, बच्चों से कस कर काम लेना और आदमियों को गुलाम बनाकर रखना सर्वथा उपयुक्त बताया गया। भले नागरिक युद्धों को सभ्य समाज का स्वाभाविक एवं हितकर अंग मान बैठे हैं। हम आज सती की प्रथा तथा दास-प्रथा को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। हमारी भावी सन्तान हमारे इन व्यवहारों की चर्चा सुनकर लज्जा से अपना सिर झुका लेगी। राष्ट्र के रूप में हमारे अनेक व्यवहार लज्जास्पद हैं। हम जितनी ही जल्दी अपनी भावी सन्तान की भावनाएँ एवं मान्यताओं का अनुमान लगा सकें, उतना ही मानव-समाज के लिए हितकर होगा।"

जो महानुभाव युद्धों की आवश्यकता एवं हितकारिता का प्रतिपादन करते हैं, वे लोग डा० साहब के मतानुसार मानव-समाज के शत्रु हैं, उनकी बुद्धि भ्रष्ट होगई है। उनका स्पष्ट कथन है कि दुष्ट लोगों से हमें अधिक खतरा नहीं है। असली खतरा हमें उन लोगों से है जो समाज में भले और सभ्य समझे जाते हैं और जो लोग सभ्यता एवं समाज के विकास की दुहाई देकर युद्धों में होने वाले संहार का समर्थन करते हैं—समर्थन ही नहीं करते, उनको समाज का अभिन्न अंग, सामाजिक उन्नति का अनिवार्य उपकरण, और न मालूम क्या क्या बताते हैं ?

सामाजिक व्यवस्था में जब किसी विचार-धारा की नींव गहरी हो जाती है, तब उसको निकाल फेंकना बहुत ही कठिन होता है। युद्ध-सम्बन्धी विचार-धारा ऐसा ही सामाजिक अभिशाप है। अतः हमें दृढ़तापूर्वक समाज की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, जिसमें युद्ध प्रायः निश्शेष हो जाएँ। युद्ध-विहीन समाज का निर्माण हमारा लक्ष्य होना चाहिए। और ऐसा क्यों नहीं हो सकता ? पहले की अपेक्षा आज हम अधिक उन्नत हैं। कोई कारण नहीं है कि आज की अपेक्षा हम भविष्य में अधिक उन्नत न हो सकें। संघर्ष-विहीनता ही हमारी उन्नति का लक्षण अथवा मापदण्ड होना चाहिए। 'एक अर्थ में परमात्मा का साम्राज्य पृथ्वी पर कभी भी अवतरित नहीं होगा, परन्तु एक भिन्न अर्थ में उसकी नित्य प्रतिष्ठा होती रहती है। हम आज युद्धों के दोषों का अनुभव करने लगे हैं, क्योंकि इनके कारण दुनियाँ में आग की लपटें दिखाई दे रही हैं। युद्धों

---

1 Though in one sense, the kingdom of God will never be realised on earth, there is another sense it is always being realised. (P. 212).

की निरर्थकता की चर्चा ही हमारी उन्नति का लक्षण है। आज हमने इनके दोषों को पहिचाना है, कल उनका परित्याग भी कर सकते हैं।

हमारे चरित-नायक को भविष्य स्पष्ट दिखाई दे रहा है। उनका दृढ़ मत है कि भविष्य में युद्ध जीवित रह ही नहीं सकते हैं। इसका बहुत ही उचित कारण है। जब लोग युद्धों की आवश्यकता की चर्चा करते थे, तब युद्धों में आज जैसे विनाशकारी साधनों का प्रयोग नहीं होता था। आजकल तो युद्धों के लिए ऐसे ऐसे विनाशकारी अस्त्रों का निर्माण होगया है कि वे बे-हिसाब हानि करते हैं। कदाचित् उनका प्रयोग कर दिया गया तो संसार की क्या दशा होगी—इस विचार-मात्र से हम कांप उठते हैं। अतः यह उपयुक्त ही है कि सभ्य राष्ट्र धीरे धीरे युद्ध के विरोधी होते जा रहे हैं। यह अनुभव करने लगे हैं कि निर्णय करने के लिए युद्ध का तरीका अब पुराना पड़ चुका है। आज के युग में युद्ध के द्वारा कोई भी समस्या नहीं सुलझाई जा सकती है।

प्रसिद्ध अँग्रेजी के लेखक स्पैंगलर (Spenglor) ने आदमी को शिकारी जानवर बताते हुए लिखा है कि युद्ध की आवश्यकता न तो राष्ट्रीयता का परिणाम है और न किसी राष्ट्र-विशेष का गुण ही है, वह तो मानव के स्वभाव का अङ्ग है। ऐसे समय की कल्पना जब कि मानव सामूहिक रूप में युद्ध करना छोड़ देगा, बिल्कुल शेखचिल्ली जैसी बात करना है। × × आदि।"

---

2 Atom Bomb Hydrogon Bomb, Cobalt Bomb आदि। कहते हैं कि समस्त संसार को राख में मिला देने के लिए १० Hydrogon Bomb पर्याप्त हैं। तब आप ही अनुमान लगाइए—भावी युद्ध की विभीषिका का !

उपर्युक्त विचार का खण्डन डा० राधाकृष्णानन् ने जिस सुन्दरता के साथ किया है, वह देखते ही बनती है। जिस प्रकार पहलवान अपने विरोधी को उसी के दाँव पर पछाड़ देता है, ठीक उसी प्रकार डा० साहब ने स्पेंगलर की बात को उन्हीं के तर्क के आधार पर दो टुकड़े कर दिया है। वह लिखते हैं कि, "मनुष्य एक ऐसा शिकारी जानवर नहीं है जो सदैव अपने से निर्बल पड़ौसियों को हड़प कर जाता है। मनुष्य खूंखार जानवरों की तरह नहीं होते हैं। मनुष्य की आदतें मौलिक, जन्मजात नहीं होतीं हैं, विभिन्न प्रकार के अनुभवों के फलस्वरूप उनका निर्माण होता है। हमारे व्यवहार चींटियों अथवा मक्खियों की भाँति शारीरिक कीटाणुओं के द्वारा नहीं बनते हैं। हम उड़ने के लिए अथवा पानी में पार जाने के लिए पंख नहीं लगाते हैं—बल्कि जहाज़ बनाते हैं। मनुष्य की यही वह विशेषता है जिसके कारण वह सृष्टि के अन्य जीवधारियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ माना जाता है।[1] मनुष्य परिस्थितियों के अनुसार व्यवहार करने लग जाता है। युद्ध-प्रियता मानव की मौलिक वृत्ति नहीं है—यह आदत तो उसमें विभिन्न अनुभवों के फलस्वरूप एक मानसिक संस्थान के रूप में आई है। जिस प्रकार बहुत से आदमी जगन्नाथपुरी में रथ के पहिये के नीचे मरना चाहते हैं, उसी प्रकार आज बहुत-से आदमी युद्ध-क्षेत्र में मरना चाहते हैं। हमारे दिमागों के ऊपर सामाजिक परम्पराओं का पर्दा पड़ा रहता है। हम समाज से जितना डरते हैं, उतना बमों से नहीं। इस भय से छुटकारा पाने के लिए हमको सामाजिक

1—We do not grow wings or fins to cross the sea, but build aeroplanes and ships. It is this character that gives man a superiority over the rest of creation.

(P. 212)

परम्परा के पर्दे से बाहर आना होगा। हमने अपने आपको अनेक सामाजिक बन्धनों से आक्रान्त कर रखा है। यही कारण है कि हम बहुत से अनुचित कामों को भयवश उचित बताते रहते हैं। स्वतन्त्र विचार-शक्ति के पनपने के लिए हमको समुचित वातावरण तैय्यार करना होगा। × × (Page 131)

डा० राधाकृष्णनन् ने इसी प्रकार युद्ध का समर्थन करने वाले विभिन्न महानुभावों के मत उद्धृत किये हैं और इसी प्रकार उन सबका प्रबल खण्डन किया है। तर्क के आधार पर, परिणाम के विचार से, समाज और सभ्यता के विकास के दृष्टिकोण से तथा मनोवैज्ञानिक प्रणाली के विवेचन द्वारा—हर पहलू से उन्होंने युद्ध की निरर्थकता बतलाई है। उनकी स्पष्ट घोषणा है कि 'शक्ति के प्रति विश्वास एक बहुत बड़ा रोग है। इस रोग ने संसार को बहुत कष्ट पहुँचाया है और फलस्वरूप उसकी विचार-धारा को भयग्रस्त बना दिया है। × × युद्ध हमसे हमारा पुरुषत्व छीन लेते हैं।"

इस विद्वतापूर्ण विवेचन के अन्त में, परिणामस्वरूप वह ये महत्वपूर्ण शब्द लिखते हैं कि—"युद्ध एक जहरीले वातावरण की सृष्टि करते हैं—एक विषाक्त चक्र का प्रवर्तन करते हैं। विजेता मनमाने ढँग पर, प्रतिशोध की भावना से भरकर सन्धि करता है। विजित (हारा हुआ) विरोध की भावना से भरकर सन्धि करता है और बदला लेने के लिए आतुर बना रहता है। फलस्वरूप फिर युद्ध का श्रीगणेश होता है। विनम्रता हमारा आभूषण होना चाहिए। हमको किसी नवीन प्रणाली का आविष्कार करना

1—This faith in force is a disease that has twisted and tortured the world. It deprives us of manhood.

चाहिए। वह व्यवस्था क्रान्तिकारी होनी चाहिए, जो हमारे समाज की परम्पराओं में आमूल परिवर्तन कर दे।"[२]

"युद्ध की प्रणाली को सदा सर्वदा के लिए समाप्त कर देना सभ्य मानव का लक्ष्य होना चाहिए।" हमारे विचारशील चरित-नायक का यही सन्देश है।

१—यहाँ पर लेखक के एक व्याख्यान के उस महत्वपूर्ण अंश को उद्धृत किया है जिसके अनुसार आपस में लड़ने वाले आदमियों को कुत्ते के रूप में देखा है। यथा—"In a sermon preached at the River-side church, on the 19 th February 1939, Dr. Harry Emerson Fosdick said "In this regard how like we human beings are to dogs For one dog barks and ten other bark back, and the first barks more loudly and ten becomes more noisy still, in a mouting crecends of hostility. After all, he said "the dog is only human."

: १० :

आदर्श समाज

"हमारा भावी समाज आज की अपेक्षा अधिक उन्नत और श्रेष्ठ हो" । संक्षेप में डा० राधाकृष्णनन् की यही विचार-धारा है । वह एक ही बात पर बार-बार, घुमा फिराकर बल देते हैं । मानव-समाज अपनी उदात्त वृत्तियों का विकास करे, पाशविक वृत्तियों का दमन करे और इस प्रकार अपने भविष्य को अधिक सुरक्षित, सम्पन्न एवं व्यवस्थित बना दे । मानवता के विकास द्वारा ही मानव जीवित रह सकता है—अन्यथा नहीं ।

आदर्श सामाजिक व्यवस्था के विषय में चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है कि "हमारा आदर्श यथार्थ की अपेक्षा कुछ अधिक उच्च होना चाहिए—परन्तु इतना ध्यान रहे कि आदर्श वास्तविकता को न छोड़ दे—अर्थात् अपनी शक्तियाँ, अपनी सीमाएँ एवं व्यावहारिकता को ध्यान में रख कर ही हमें अपने आदर्श की स्थापना करनी चाहिए । सारांश यह है कि हमारे चरितनायक आदर्शोन्मुख यथार्थवादी हैं. किसी कल्पना-लोक में विचरण करने वाले कोरे भावुक आदर्शवादी नहीं हैं । वह ऊपर की ओर आँख उठाकर देखते हैं, परन्तु साथ ही इस बात का ध्यान रखते हैं कि उनके पैर जमीन पर ही बने रहें—कहीं ऐसा न हो कि उन्हें अपनी वस्तुस्थिति का ध्यान ही न रहे और उनके पैर उखड़ जाएँ" । उनका स्पष्ट कथन है कि "The world cannot be suddenly trans muted into obedience to the law of love.. अर्थात् हम इस संसार

को यकायक प्रेम की दुनियाँ नहीं बना सकते हैं। युद्ध कोई आक-स्मिक घटना तो होते नहीं हैं। वे भी किन्ही विशेष कारणों के फलस्वरूप उपलब्ध होने वाले कार्य हैं। हिटलर के विषय में भी उनका ऐसा ही दृष्टिकोण था। उन्होंने लिखा है कि हिटलर कार्य है, एक लक्षण विशेष है, कारण नहीं है। हमारे समाज में फैले हुए शोषण के फलस्वरूप असन्तोष एवं प्रतिरोध की भावना का जन्म होता है। हिटलर का उठ खड़ा होना उसका आवश्यक परिणाम था। अतः हिटलर को हम यदि व्यक्तिविशेष न मानकर समाज के कतिपय दोषों का प्रतीक मानने लगें तो अधिक उपयुक्त हो। हम यदि सचमुच यह चाहते हैं कि हिटलर उत्पन्न न हों, हिटलर-शाही का नाश हो जाए, साम्राज्यवादी अथवा तानाशाही सदा सर्वदा को सो जाए, तो हमें यह संकल्प कर लेना चाहिए कि आज से प्रत्येक मनुष्य को बिना किसी प्रकार के भेद-भाव के (जाति, सम्प्रदाय, धर्म, रंग आदि के भेद के) कार्य करने और अपनी जीविका कमाने का समान रूप से अवसर प्राप्त होगा, और प्रत्येक नागरिक को शिक्षा, आवास, आवश्यकताओं की पूर्ति तथा स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने की सुविधाएँ प्राप्त होंगी। हमारे समाज की वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत एक ओर नाज के ढेर के ढेर सड़ते रहते हैं अथवा कुछ लोगों के ऐशो-आराम को ध्यान में रख कर सड़ाए जाते हैं और दूसरी ओर लोग भूखों मरते हैं। इस व्यवस्था का अन्त होना चाहिए। हम एक दूसरे के प्रति उदासीन हैं, हमारे भीतर अरक्षा की भावनाएं कार्य करती हैं और परिणामतः एक दूसरे के ऊपर अधिकार करने का प्रश्न उपस्थित होता है। अतः शक्तिशालियों को चाहिए कि वे निर्बलों की सहायता करने की बात सोचें, उनके ऊपर शासन करने की नहीं। ऐसे वातावरण

में शक्ति का प्रयोग, युद्ध की आवश्यकता स्वयं ही समाप्त हो जायगी।

डा० साहब का तो स्पष्ट मत है कि हमको अधिक ऊहापोह नहीं करनी चाहिए। केवल अपने ऊपर ध्यान देना चाहिए। युद्ध क्यों होते हैं? उनके मूल में धर्म है अथवा राजनीति अथवा अर्थ, किंवा उनका कारण हमारी विचार-धारा है अथवा सामाजिक व्यवस्था? हमको इन सबके पचड़े में नहीं पड़ना चाहिए। हमारे विचार से जनमत का प्रभाव सरकार पर गहरा पड़ता है। हमें चाहिए कि ऐसे अनुकूल वातावरण की सृष्टि करें जिसके कारण सरकारें युद्धों में भाग ही न लें। जनमत का दबाव ही सरकार को युद्ध क्षेत्र से विमुख कर सकता है। हमको ऐसी संस्थाओं की स्थापना करनी चाहिए जिनके द्वारा शान्तिप्रियता एवं नैतिकता का प्रसार हो सके।

उनके विचार से अन्याय एवं अत्याचार युद्ध को जन्म देते हैं। हमें ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति एवं राष्ट्र के प्रति न्याय-पूर्ण व्यवहार किया जाय। किसी को सताया नहीं जाय, किसी का शोषण न किया जाय तथा प्रत्येक को यह विश्वास हो कि उसके प्रति न्याय न होने की कोई किसी प्रकार की सम्भावना है ही नहीं। जिस समाज का एकमात्र लक्ष्य 'न्याय' होगा, वही समाज आदर्श कहा जाता है। न्याय एक बहुत ही व्यापक शब्द है। उसके प्रति सतर्कता एवं जागरुकता ही समाज की विकासशीलता का निर्धारण करती है।

साम्राज्यवादी शासन-व्यवस्था तथा प्रत्येक प्रकार के शोषण के वह घोर विरोधी हैं। उनका स्पष्ट निदान है कि हिटलरों का

उत्पन्न होना तथा देशों की पराधीनता अराजकता की निशानी हैं। हम यदि चाहते हैं कि संसार में व्यवस्था रहे, अमन-चैन रहे तो हमको चाहिए कि अन्य लोगों के ऊपर शासन करने का विचार छोड़ दें। पारस्परिक सहयोग एवं शान्ति-प्रियता के ऊपर आधारित समाज ही हमारे लिए आदर्श बन सकता है। यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए। हमें यदि सचमुच संसार में शान्ति एवं सहयोग पर आधारित समाज अभीष्ट है, तो साम्राज्यवादी राष्ट्रों को कुछ त्याग करने के लिए तैयार रहना चाहिए। अपनी कूटनीति के फलस्वरूप उनको जो बहुत-से आर्थिक लाभ एवं सुविधायें प्राप्त हैं, उन्हें वे त्याग देने पड़ेंगे।

पारस्परिक सहयोग एवं सद्भावना पर आधारित समाज की व्यवस्था के विभिन्न साधनों की भी चर्चा आपने की है। आपने यह लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय किस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र के प्रति न्याय की व्यवस्था कर सकता है, अन्तर्राष्ट्रीय शासन-व्यवस्था किस प्रकार आर्थिक-शोषण का निराकरण कर सकती है, अन्तर्राष्ट्रीय सैन्य-संगठन किस प्रकार युद्धों को रोक सकता है, आदि। अन्त में निष्कर्ष रूप में आपने हिन्दू स्मृतिकारों के द्वारा प्रतिपादित शासन-व्यवस्था के चारों भेदों, साम (Friendship), दाम (Appeasement), दण्ड (Armed resistance), तथा भेद (Mutual dissensions)—की महत्ता की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि "हम यह स्वीकार करते हैं कि समाज एक झटके में अहिंसक नहीं हो सकता है, परन्तु यह अवश्य है कि हम यदि इस

1—Non-violence may be unattainable if we wish to obtain it at one rush, but we may reach it if we are prepared to work towards it by stages. (p 226)

और गम्भीरतापूर्वक प्रयत्न करेंगे तो अवश्य ही क्रमशः अहिंसा पर आधारित सामाजिक व्यवस्था स्थापित कर सकेंगे ।"[१]

उपर्युक्त विवेचन के फलस्वरूप डा० राधाकृष्णनन् का आदर्श समाज वही है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सुखी हो, सुरक्षित हो, न्याय-प्रिय हो तथा स्वतन्त्रता पूर्वक अपने-अपने कर्त्तव्यों (धर्म) का पालन कर सके । ऐसा आदर्श राज शत प्रतिशत 'सुराज' ही होगा । इस 'सुराज' का पारिभाषिक नाम 'रामराज्य' है । हमारे आर्ष ऋषियों ने पूर्व-काल में इसकी कामना की थी, मध्य-काल में महात्मा ईसा ने 'खुदा की सल्तनत' कहकर इसकी ओर संकेत किया और आधुनिक काल में महात्मा गाँधी ने इसी की स्थापना का सुख-स्वप्न देखा । हमारे चरितनायक का 'आदर्श राज्य' भी यही 'राम राज्य' ही है । 'राम राज्य' और 'आदर्श राज्य' प्रायः समानार्थी हैं । देखिए 'राम राज्य के लक्षण—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग ।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग ।
दैहिक दैविक भौतिक तापा । राम राज नहिं काहुहि ब्यापा ।

× × × ×

नहिं दरिद्र कोऊ दुखी न दीना । नहिं कोऊ अबुध न लच्छन हीना ।
सब निर्दम्भ धर्मरत पुनी । नर अस नारि चतुर सब गुनी ।

× × = ×

राम राज कर सुख संपदा । बरन न सकहिं फनीस सारदा ।
सब उदार सब पर उपकारी । बिप्र चरन सेवक नर नारी ।

(उत्तरकाण्ड, रामचरितमानस)

भारतवर्ष की संस्कृति के अन्तर्गत व्यक्ति के सुधार पर विशेष बल दिया गया है । भारतीय संस्कृति सदाचरण-प्रधान है, उसमें

व्यक्ति की अन्त: प्रवृत्तियों के उत्कर्ष को विशेष महत्व दिया गया है। ईश्वर में आस्था, अर्थ में त्याग, काम में संयम और तप[1] भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। उसके आर्य ऋषि-मुनियों ने सदा से विश्व-मंगल की कामना से ही प्रेरित होकर साधना की है। यथा—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखः भाग्भवेत् ॥

भारतीय संस्कृति के इन्हीं स्तम्भों पर आधारित समाजिक व्यवस्था का दर्शन इस महान दार्शनिक के 'दर्शन' का फल है।

---

१. दुःख सहन करने की शक्ति और सुःख एवं दुख में समान रहने के योग्य आत्म-बल।

२. महात्मा गाँधी के विषय में आपने सन् '४७ में ठीक ही लिखा था कि—The world will look back to him some day, and salute him as one born out of his time, one who had seen the light in a dark and savage world."

लोकमत

"There is no need to define what philosophy is. The Vice-President not only examplifies but embodies it in his own person."[1]

अर्थात् "दर्शन की परिभाषा देने की कोई आवश्यकता नहीं है ! हमारे उपराष्ट्रपति इसकी जीती-जागती प्रतिमा हैं, उनके व्यक्तित्व में उसका साक्षात्कार होता है।"

× × × ×

"Having risen from the position of a professor in a college to the head of the Indidn Nation and a representative leader of the best intellect of the world, he has expanded and enlarged his mission affecting all the spheres of human life as his work in various capacities required. He has been a tremendous force in the spiritual revival of India and the world.

No one has awakened the West to the consciousness of the supremacy of spiritual values as Radhakrishnan."[2]

अर्थात् "वह कौलेज के एक प्रौफेसर के पद से ऊँचे उठकर

1—Alfred Zimmern.

2—A. U. Vasavada.

एक राष्ट्र के नायक के पद को प्राप्त हुए हैं, वह विश्व के मेधावी व्यक्तियों के एक मुख्य प्रतिनिधि हैं। उन्होने अपने कार्य को बहुत ही विस्तृत और व्यापक बनाकर मानव-समाज के प्रत्येक अङ्ग को प्रभावित किया है। उन्होंने मानव-समाज की विभिन्न रूपों में सेवा की है। भारतवर्ष और संसार के आध्यात्मिक पुनर्जागरण में वह एक बहुत ही बड़ी शक्ति रहे हैं। पाश्चात्य देशों में आध्यात्मिक भाव जाग्रत करने में जितना डा० राधाकृष्णनन् का हाथ रहा है, उतना संसार के अन्य किसी भी व्यक्ति का योग नहीं है।

अर्थात् "वह उन इने-गिने लोगों में से हैं जिनसे वार्तालाप करने वाले को स्फूर्ति प्राप्त होती है। उनकी बातचीत में सभ्य समाज तथा संसार से सम्बन्धित विभिन्न बातें सुनने को मिलती हैं; उनकी बातचीत की विशेषता यह है कि उनमें हिन्दू विचार-धारा का गहरा पुट होता है, उसके कारण वह महत्वपूर्ण भी बन जाती है तथा अपना पृथक स्थान भी रखती है।"[1] × ×

"भारतवर्ष के राजनीतिज्ञ तथा एक विशेष संस्कृति के उपासक नागरिक, इन दोनों ही रूपों में श्री राधाकृष्णनन् ने यह प्रयत्न किया है कि वह सम्पूर्ण मानव-समाज का प्रतिनिधित्व कर सकें और विश्व के नागरिक कहे जा सकें।" यथा—

"Both as a statesman for India and as a private citizen with in the queal culture which he cherishes, Dr. Radhakishnan has insisted also upon being a statesman for all mankind and a citizen of the world".[2]

"Radhakrishnan is a great, indeed a unique, interpreter × × × He has done much to make us understand Indian ways of thought."

1, C. E. M Joad

2, F. S C. Northrop.

अर्थात् डा० राधाकृष्णनन् वास्तव में एक बहुत ही कुशल दुभाषिया हैं। × × × उन्होंने हम लोगों को—पश्चिम देश के निवासियों को—भारतीय विचार-धारा हृदयंगम कराने में बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।"[1]

× × ×

"अपने पाण्डित्य के बल पर वह भारत के दार्शनिक और सांस्कृतिक प्रगति के इस संक्रमण-काल में पुरातन और नवीन के समन्वय के प्रतीक बन गए हैं। × ×

डा० राधाकृष्णनन् की जो कुछ ख्याति हुई, × × × वह उनके दार्शनिक विचारों के कारण हुई।

× × ×

उन्होंने इस बात की पूरी कोशिश की कि भारतीय धर्म और दार्शनिक विचारों की आधुनिक पृष्ठभूमि में प्रतिष्ठा की जा सके।

× × ×

डा० राधाकृष्णनन् ने भारतीय धर्म और संस्कृति की विशेषताओं को पहचाना और भारतीय जनता के इन गुणों को, उसकी दार्शनिक जीवन-शैली को अपनी समझ और पांडित्य के बल पर वाणी दी और सर्वत्र उसकी प्रतिष्ठा की।"[2]

× × ×

He has offered × × × a philoshphic outlook in which East and West may come to understand and appreciate one another.[3]

---

1. Gilbert Murray—A Great Interpreter।
२. हरगोविंदसिंह · शिक्षा-मन्त्री, उत्तर-प्रदेश।
3. Herbert Wood.

अर्थात् उन्होंने एक ऐसा दार्शनिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है जिसके द्वारा पूर्व और पश्चिम एक दूसरे के निकट आसकें और एक दूसरे के विचारों का आदर कर सकें।"

"दो विभागों में विभक्त संसार के देशों की विभन्न विचारधाराओं को, आज उनसे अधिक अच्छी तरह कोई नहीं समझता है।"[1]

"राधाकृष्णनन् केवल कर्मयोगी तथा उत्तरदायित्वपूर्ण स्थितियों को उत्पन्न करने वाले ही नहीं हैं, बल्कि उनमें उत्तर-दायित्व को स्वीकार करके उसके निर्वाह की अद्भुत क्षमता है तथा अवसर उपस्थित होने पर वह रचनात्मक कार्य करने में पूर्णतया कुशल हैं। उनके व्यक्तित्व में मानवोचित साहस, कठिनाइयों का सामना करने की शक्ति तथा दूर-दर्शिता का जो सुखद समिश्रण है, वह बिरले ही व्यक्तियों में देखने को मिलता है।

× × × ×

"मानव-समाज की सेवा करने के फलस्वरूप उनका नाम चारों ओर चमक रहा है। × × संसार के विद्वानों, विश्व-विद्यालयों तथा अधिकांश नेताओं का सहयोग उन्हें प्राप्त है।"[2]

× × × ×

1—H. N. Spalding.

रूस ने अपने यहाँ की सुरक्षा-व्यवस्था ऐसी कड़ी बना रखी थी कि वहाँ के निवासियों का संसार के अन्य देशों से एक प्रकार से सम्बन्ध ही विच्छेद हो गया था—न कोई खबर अन्दर आ सकती थी और न कोई बाहर जा सकती थी। इसी व्यवस्था को Iron curtain कहते थे। अब यह व्यवस्था नहीं रही है। स्टैलिन की मृत्यु के बाद रूस के शासकों ने संसार के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित करना आरम्भ कर दिया है।

2—H. S. L. Polak.

"No living man has done so much as Sir Sarvepalli Radhakrishnan to bridge the gate between East and West."[२]

अर्थात् "पूर्व और पश्चिम के बीच उत्पन्न भेद को कम करने में जितना सर सर्वपल्ली राधाकृष्णनन् ने काम किया है, उसकी समानता नही मिलती है।"

× × × ×

"Produce and citizen of the East that he is, he has at the same time also mastered the thought of the West and, in the ongoing conflict between East and West no one has played a more synthesising role than has he."[3]

अर्थात् "श्री राधाकृष्णनन् का जन्म पूर्व (भारत) में हुआ वह वहीं के नागरिक हैं। फिर भी पाश्चात्य विचार-धारा के ऊपर उनका पूरा-पूरा अधिकार है। पूर्व और पश्चिम के विचारों के संश्लेषण (दोनों के समन्वय) का जो कार्य उन्होंने किया है, वह संसार के अन्य किसी जीवित अथवा आधुनिक व्यक्ति ने नहीं।"

× + = ×

"भारत का सौभाग्य है, जो महान् विचारक, गूढ़ दार्शनिक और युद्ध की विभीषिका से संतप्त, संसार को गम्भीर चेतावनी देने वाला यह सन्त उसका अपना है। मानवीय स्वातन्त्र्य का सजग प्रहरी।"[१]

एक महानुभाव ने डा० राधाकृष्णनन् को संस्कृति का दार्शनिक (A Philosopher of culture) बताया है। यथा—

2—Leonel Curtis.

3—Paul Arthur Schilpp.

१ प्रकाशवीर शास्त्री

Vivokanand made Vodanta the national philosophy of India. Radhakrishnan has made it a cultural philosophy for the world.

अर्थात् स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त को भारतवर्ष का राष्ट्रीय दर्शन बनाया था। राधाकृष्णनन् ने उसको विश्व-संस्कृति का दर्शन बना दिया है।

\+ \+ \+

Radhakrishnan has been the great exponent, of nationalism in Hindu thought and culture.

He is Indias Philosopher-statesman, who has greatly enhanced the fair name and reputation of his motherland in the eyes of the entire civilised world.

अर्थात् "राधाकृष्णनन् ने भारतीय विचार-धारा तथा संस्कृति को युक्ति-युक्त एवं तर्क-सम्मत प्रमाणित करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की है। × + वह भारतवर्ष के दार्शनिक-राजनीतिज्ञ हैं। उन्होंने समस्त सभ्य देशों की आँखों में अपनी मातृभूमि के पवित्र नाम और उसकी परम्पराओं के प्रति मान अर्जित किया है।"

\+ × ×

वे "वसुधैव कुटुम्बकम्" के आर्य आदर्श को मानने वाले विश्व-नागरिक हैं।

× × +

श्री राधाकृष्णनन् एक महान दार्शनिक हैं, साथ ही वे एक

---

1 Dr. D. P. Singh

2 Dr. Shyama Parsad Mookerjee

महान देश-भक्त है परन्तु एक मानव के रूप में ये और भी महान् है। उनकी महत्ता मे मानवता की मधुरिमा विद्यमान है। आर्यावर्त्त को अपने इस सरस्वती-दूत पर अभिमान है।[1]

× × ×

We hope that we shall find the proper indication of ten paths to follow from him- not only for ovrselves in India, but also thinking section of hunanity outside India as well.[2]

अर्थात् "हमें आशा है कि हमे उनके द्वारा ऐसे मार्ग का उपयुक्त संकेत प्राप्त हो सकता है जिसका अनुसरण हम भारतवासियों के लिए ही नहीं, अपितु भारत के बाहर अन्य देशों के निवासियों के लिए भी हितकर सिद्ध होगा।"

× ×

राधाकृष्णनन् भारतवर्ष के एक कर्मयोगी दार्शनिक हैं।

"उन्होंने भारतीय दर्शन को विश्व के सर्वोत्तम दर्शनों की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया है। अब भविष्य मे दर्शनशास्त्र के किसी भी विद्वान का अध्ययन तब तक पूरा न समझा जाएगा, जब तक उसने भारतीय दर्शन का मनन न कर लिया हो।"[3]

+ + +

स्वामी भारती के मतानुसार डा० राधाकृष्णनन् एक मानवतावादी दार्शनिक (A Humanist Philosopher) है।[4]

---

१ शंकरदेव विद्यालंकार।

2 Sumti kumar Chatterji

3 S P. Kanal

४ देखे Swami Agehananda Bharati का लेख Dr. S. RadhaKrishnan A Humanist Philosopher.

अन्त में, सारांश रूप मे हम कह सकते है कि 'डा० राधाकृष्णनन् केवल एक गम्भीर विचारक, उत्साही अध्यापक तथा एक महान् दार्शनिक ऋषि है: जिन्होंने आध्यात्मिक पुनरुद्धार से सम्बन्धित संसार को एक महान् संदेश दिया है।"

"इंगलैन्ड मे Oxford से प्रकाशित होने वाले एक दैनिक पत्र ने हमारे चरित्र-नायक की वक्तृत्व शक्ति के सम्बन्ध में बहुत दिनों पूर्व एक टिप्पणी लिखी थी। वह टिप्पणी उनके वाणी-चमत्कार की सजीव प्रतिमा प्रस्तुत कर देती है। वह टिप्पणी इतनी मर्मस्पर्शी है कि उसको पढ़ कर हमारे चरित्र-नायक भी एक बार झूम उठे थे। उन्होंने उस टिप्पणी को अपनी पुस्तक 'My search for Truth, में उद्धृत किया है। डा० साहब के शब्दों को ज्यों का त्यों यहाँ उद्धृत किया जाता है। यथा—

It heartened me to know that my addresses were liked by Christian audiences. Referring to my sermon on Revolution through suffering an Oxford Daily observed, "though the Indian preacher had the marvellous power to weave a magic web of thought, imagination, and language, the real greatness of his sermon resides in some indefinable spiritual quality which arrests attention, moves the heart, and lifts us into an ample air."

श्री जगमोहन अवस्थी विरचित निम्नलिखित छन्दों में लोकनायक के व्यक्तित्व एवं उसके प्रति लोक की भावनाओं का सार समाया हुआ है—

We have in Radhakrishnan not only a profound thinker, an inspired teacher and a great philosopher, but a modern Rishi who has a great message to give to the world concerning its spiritual emancipation Satya Narayan Sinha in his essay. 'The Influence of Radhakrishnan."

जय जय जय राधाकृष्णानन्

(१)

राम-कृष्ण के भारत की गौरव गरिमा साथ लिए।
चिर अतीत का सत्य-केतु भी तुम निज पावन हाथ लिए ।।
ज्ञान-धरोहर ऋषि-मुनियों की रक्षित तुमसे हुई यहां।
दिव्य दार्शनिकता या तुमको धन्य सभी विधि हुई यहां ।।

(२)

ज्ञान ज्योति, हे शान्ति-मूर्ति ! तुम राजनीति के पंडित हो।
धर्म-ध्वज, हे दयासिन्धु ! तुम त्यागी पूज्य गुणमण्डित हो ।।
भारत-यश-शिर-शिखा दिव्य जिसको संसार निहार रहा।
हे राधा कृष्णानन् युग अभिनन्दन जन-जन आज पुकार रहा ।।

(३)

ज्ञानी-उर-सम्राट राष्ट्र-नायक युग-भाग्य-विधायक हो।
सागर से गम्भीर धीर तुम दुर्गम-जग-पथ नायक हो ।।
पीने वाले सुधा और विष साथ-साथ प्रिय शंकर हो।
जय भारत के भाल-कीट जन-मन में तुम अभयंकर हो ।।

(४)

लिए ज्ञान-तूलिका राष्ट्र के पावन चतुर चितेरे तुम।
युग अज्ञान-तिमिर के छविमय सुखमय सुखद सबेरे तुम ।।
लक्ष्य-विंदु की प्राप्ति साधना सिद्धि तुम्हारा शुभ वन्दन।
गंगा-यमुना की लहरों से अभिनंदित श्री राधाकृष्णानन् ।।

(५)

अगणित अनुयायी करते हैं अर्पित जीवन तन-मन धन।
युग-युग जीओ अमर राष्ट्र उत्थान हेतु यह शुभ वन्दन ।।
वह प्रतिमा सौजन्य कि जिसका युग करता है अभिनंदन।
दर्शन की साकार मूर्ति जय ! जय ! जय राधाकृष्णानन् ।।